विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

स्वामी विवेकानन्द (अमेरिका में)

वर्ष २
अंक १

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी—मार्च १९६४

प्रधान सम्पादक

स्वामी आत्मानन्द,

सह-सम्पादक

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नम्बर. १०४६

अनुक्रमणिका

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २] जनवरी — १९६४ — मार्च [अंक १

वार्षिक चन्दा ४) ❀ एक प्रति का १)

अमरत्व-प्राप्ति का उपाय

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः,

तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्,

आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन् ॥

—स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियों को बहिर्गामी बनाकर (मानो) उनकी हिंसा कर दी। यही कारण है कि जीव बाहर के विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। पर कोई धीर पुरुष था, जिसने चक्षु आदि इन्द्रियों को रोक कर, अमरत्व की इच्छा करते हुए, प्रत्यगात्मा को देख लिया। (तात्पर्य यह कि यदि हम भी अमरत्व की चाह करें और अपनी इन्द्रियों को बहिर्गामी बनने से रोक दें, तो प्रत्यगात्मा को देख ले सकते हैं।)

—कठोपनिषद्, २।१।१

संसार-अरण्य

एक समय की बात है, कोई व्यक्ति अरण्य में से होकर जा रहा था। वह रास्ता भटक गया। देखते ही देखते सन्ध्या उतर आयी, पर वह रास्ता न खोज पाया। इतने में तीन डाकू कहीं से निकल पड़े और उस बटोही को लूट लिया। उनमें से एक ने सलाह दी, "अब इस आदमी को जीवित रखकर क्या लाभ? यह तो पुलिस में खबर दे देगा।" और यह कहकर वह अपनी तलवार उस बटोही के गले पर फेरना ही चाहता था कि दूसरा डाकू बोल उठा, "अरे, अरे, नाहक हत्या का पाप क्यों मोल लेते हो? ऐसा करो, इसके हाथ-पैर बाँधकर इसे यहीं डाल दो।" डाकुओं ने बटोही के हाथ पैर बाँध दिये और अपने रास्ते चले गये। कुछ समय बाद तीसरा डाकू लौट आया और बटोही से कहने लगा, "भाई, मुझे दुःख है कि तुम्हें कष्ट हुआ। कहीं चोट तो नहीं आयी? क्या करता, उस समय मैं अकेला पड़ जाता। मेरे दोनों साथी मुझसे सहमत नहीं होते। मैं तुम्हारे बन्धन खोले देता हूँ।" फिर बन्धन खोलकर उसने बटोही से पुनः कहा "आओ, मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हें बड़े रास्ते तक पहुँचा आता हूँ।" बड़ी देर चलने के बाद वे बड़े रास्ते पर पहुँचे। बटोही डाकू के उपकार से दब गया और हाथ

जोड़कर उसने गद्गद् स्वर में कहा, "भाई, तुमने मेरी जान बचा ली। किस प्रकार इस उपकार का बदला चुका सकता हूँ! कम से कम मेरे घर तक तो चलो।" इस पर डाकू बोला, "नहीं, नहीं, मैं इसके उस पार नहीं जा सकता। पुलिस को खबर लग जायगी। बस यहीं से विदा।"

यह संसार ही वह अरण्य है। जीव यहाँ भटक गया है। उस पर सत्त्व, रज और तम रूपी तीन डाकू हमला करते हैं। वे जीव के आत्मज्ञान रूपी अमूल्य धन को लूट लेते हैं। तमोगुण तो उसका खात्मा ही कर देना चाहता है। रजोगुण उतनी दूर नहीं जाता, पर हाँ, उस दूसरे डाकू के समान वह जीव को संसार-पाश से जकड़ देता है। किन्तु सत्त्वगुण उसे रज और तम इन दोनों के बन्धन से मुक्त कर देता है। सत्व के प्रबल होने पर जीव काम, क्रोध और तमोगुण के अन्य दोषों से छुटकारा पा लेता है। साथ ही, सत्व संसार-पाश को भी शिथिल कर देता है। पर सत्त्व भी आखिर डाकू ही है। भले ही वह भटके हुए जीव को संसार-अरण्य से निकाल-कर परमात्मा तक पहुँचने की राह दिखा देता है, तथापि वह उसे आत्मज्ञान नहीं दे सकता। जीव को रास्ते पर लाकर सत्त्वगुण उससे कहता है, "देखो, सामने देखो। वह रहा तुम्हारा धाम।"

सत्त्वगुण भी ब्रह्मज्ञान से बहुत दूर है।

—×—

विवेकानन्द और उनका सेवाव्रत

स्वामी निखिलानन्द

(स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष में न्यूयार्क, स्थित रामकृष्ण विवेकानन्द सेंटर के तत्त्वावधान में २८ मार्च १९६३ को एक प्रीतिभोज का आयोजन किया गया था। प्रस्तुत लेख उक्त अवसर पर सेंटर के अध्यक्ष श्रीमत्स्वामी निखिलानन्दजी महाराज के द्वारा दिया गया भाषण है। समारोह के प्रमुख अतिथि श्री उ० थान्ट, महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ, द्वारा प्रदत्त भाषण अगले लेख में दिया गया है। सं०)

आज संध्या समय हम सब यहाँ एक लोकोत्तर संत का समादर करने उपस्थित हुए हैं जिनका जन्म एक शताब्दी पूर्व हुआ था। अन्य सभी महान् संतों के समान स्वामी विवेकानन्द ने भी भगवत्साक्षात्कार किया था, किन्तु अन्य अनेक संतों के समान वे उस अनुभव का आनन्द केवल अपने ध्यान और उपासना अथवा चुने हुए शिष्यों की दीक्षा तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। उन्होंने भारतवर्ष तथा भारतेतर देशों में अनेक निष्ठावान् साधकों की अध्यात्म-ज्योति को जागृत किया और साथ ही साथ अपना समस्त जीवन जन - साधारण की—विशेषकर भारत के—भौतिक स्थिति के सुधार में समर्पित कर दिया। उनका सेवाव्रत राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों था। यही कारण है कि

उनकी जन्म शताब्दी यूरोप, अमेरिका, रूस एवं सुदूरपूर्वीय देशों में तथा राष्ट्रीय स्तर पर भारतवर्ष में मनाई जा रही है।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ते के एक सुसमृद्ध कुटुम्ब में हुआ था और उनके चरित्र के निर्माण में उनके विवेकवान् पिता तथा उनकी धर्म-भीरु माता दोनों का भाग था।

महाविद्यालयीन शिक्षा के काल में उनपर आधुनिक विज्ञान का एवं जॉन स्टुअर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर तथा डेविड ह्यूम जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों का भी प्रभाव पड़ा था। वे भौतिक अथवा आध्यात्मिक, प्रत्येक घटना के लिये, युक्ति मूलक प्रमाण एवं साक्षात् निदर्शन की अपेक्षा रखते थे। किन्तु उनकी अन्तरात्मा ध्यान और उपासना द्वारा परमात्मा की अनुभूति के लिपे तृषित रहती थी। शंका से उद्वेलित मन को लेकर श्रीरामकृष्ण की शरण में पहुँचे जिनका ईश्वरोन्मादित जीवन कलकत्ते के अनेक लोगों को उनके पास खींच ला रहा था। सच्चे हृदय से उन्होंने पूछा "भगवन्! या आपने परमात्मा के दर्शन किये हैं?" श्रीरामकृष्ण ने निश्चयात्मक उत्तर दिया, "हाँ, मैंने परमात्मा को देखा है। तुम्हें जिस प्रकार देख रहा हूँ, उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष रूप से उसे देखा है।" बड़ी जाँच-पड़ताल और परीक्षण के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के शिष्य बने और आभ्यंतर निष्ठा प्राप्त की। उन्होंने विशेष रूप से उनसे सीखा

कि सभी धर्म सच्चे साधकों को उस एक और अद्वितीय परमात्मा तक पहुँचा देते हैं। एक बार विवेकानन्द ने परमात्मा के ध्यान में समाधिस्थ होकर रहने की आकांक्षा प्रकट की। उस पर गुरुदेव ने ताड़ना की, "निमीलित चक्षुओं से भगवान् के दर्शन करने की इतनी उत्सुकता क्यों? क्या खुली आँखों से तुम उन्हें नहीं देख सकते? भगवान् तो सब मनुष्यों में रमे हैं। मानव की सेवा भगवान् की सर्वोपरि सेवा है।" इस उपदेश ने विवेकानन्द के जीवन को नवीन दिशा प्रदान की।

भगवान् श्रीरामकृष्ण के महाप्रयाण के पश्चात् विवेकानन्द ने संसार का त्याग कर साधु के रूप में समस्त भारतवर्ष का भ्रमण किया, तीर्थस्थलों और सांस्कृतिक स्मारकों के दर्शन किये एवं सभी वर्गों की जनता से मिलकर उनका परिचय प्राप्त किया। राष्ट्र के अतीत गौरव से उनका हृदय उत्फुल्ल हो उठता था, किन्तु भारत के जन-साधारण के भौतिक कष्टों को देखकर उनका हृदय दुखी हो जाता था। उन्होंने उनकी भौतिक उन्नति के उपाय ढूँढ़ निकालने का निश्चय किया। अपनी अंतर्दृष्टि से उन्होंने देखा कि भारत को उन्नत पाश्चात्य के वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण की आवश्यकता है। उन्हें ऐसी भी दृढ़ भावना हुई कि हम पाश्चात्यों को भारत का कुछ आध्यात्मिक अनुभव प्रदान करके द्रुतगति से बढ़ने वाले भौतिक दृष्टिकोण से उनका उद्धार कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप उनमें भय और शंका का संचार हो गया है और वे अपनी आभ्यंतर शान्ति खो बैठे हैं।

भगवान् का इंगित पाकर तीस वर्षीय युवक स्वामी विवेकानन्द अमेरिका आये जहाँ उन्होंने १८९३ में शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व किया। जनता ने उन्हें तत्काल भारत का आध्यात्मिक दूत स्वीकार कर लिया।

भगवान् के इस दूत की अद्वितीय वक्तृत्व-शक्ति, स्नेह पूर्ण हृदय और पवित्रता पर गुणग्राही अमेरिकन जनता मुग्ध हो गई। इस नई दुनियाँ में उन्होंने चार वर्ष व्यतीत किये और दूर-दूर तक भ्रमण कर हिन्दू धर्म के सनातन तत्वों का प्रचार किया। उन्होंने बताया कि प्रत्येक मानव आत्मा में देवत्व है, भले आज वह सुप्त है; और मूलतः सब मानव एक हैं तथा सब धर्मों में सामंजस्य है। उन्होंने उस ईश्वर के विषय में बताया जो सब देवों से ऊपर है एवं उस धर्म की शिक्षा दी, जो हमारे सकल मतवादों से ऊपर स्थित है तथा समस्त रूढ़ियों, कर्मानुष्ठानों और सिद्धान्तों से परे है। उन्होंने दिग्दर्शित किया कि ऐसे विश्वधर्म के आधार पर समस्त जगत् में ऐक्य स्थापित हो सकता है। यह धर्म क्राइस्ट, बुद्ध और कृष्ण के समान समस्त विभूतियों के देवत्व के सम्मुख नतमस्तक होगा। इसमें असहिष्णुता एवं उत्पीड़न के लिये किंचित् भी स्थान न रहेगा, वरन् समस्त धार्मिक विश्वासों के लिए असीम आदर होगा! यह धर्म समस्त नर-नारियों को अपनी आभ्यंतर उन्नति के नियमों के पालन की स्वतंत्रता प्रदान करता हुआ उनके भीतर के प्रसुप्त दैवत्व को जागृत करने में सचेष्ट रहेगा। स्वामी

विवेकानन्द दृढ़तापूर्वक घोषणा करते थे कि सच्चा धर्म मानव को बल, सौन्दर्य और गरिमा से समन्वित करता है तथा दूसरों से स्नेहमय सौहार्द्र स्थापित करने में सहायक होता है। आक्रामक दूषण पर विजय प्राप्त करने के लिये संसार को ऐसे ही आक्रमणशील सौजन्य से भरे-पूरे धर्म की आवश्यकता है।

पाश्चात्य जगत् द्वारा अनुमोदित आध्यात्मिक शक्ति से सबल हो स्वामी विवेकानन्द भारतवर्ष लौटे और राष्ट्रीय पुनरुद्धार के कार्यों में जुट पड़े। उनतालीस की अवस्था में अकाल-मृत्यु के ग्रास होने के पूर्व उन्होंने रामकृष्ण संघ का संगठन किया, जिसके सदस्य आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति एवं समस्त संसार के मानवों की सेवा के व्रत में दीक्षित होते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने विज्ञान एवं अति-विज्ञान अर्थात् धर्म, दोनों के महत्व को स्वीकार कर उनके समन्वय का मार्ग दिखाया। विज्ञान द्वारा परिवर्धित बुद्धि यदि विवेक-शून्य हो तो समाज का विनाश कर सकती है। सहृदयता से शून्य तर्क संसार को रक्त से परिप्लावित कर सकता है। इसी प्रकार, विज्ञान द्वारा दिये गये साधनों और सुविधाओं से शून्य धर्म भी, मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सकने के कारण खोखला आदर्शवाद ही बना रह सकता है। हिन्दू धर्म शास्त्र कहते हैं कि विज्ञान द्वारा मानव रोग, दारिद्र्य और अज्ञान पर विजय प्राप्त करता है तथा अति-विज्ञान अर्थात् धर्म द्वारा वह अमरत्व लाभ कर लेता है।

विवेकानन्द ने अनुभव किया कि विज्ञान और धर्म के सहकार्य से संसार अपनी वर्तमान संकटापन्न स्थितिसे उद्धार पा लेगा और सुचारुरूपेण अपनी गर्भगत नव आत्मा को जन्म देगा।

स्वामी विवेकानन्द की कल्पनाशक्ति विशाल थी। सत्तर वर्ष पूर्व उन्होंने सर्व-धर्म-परिषद् के माध्यम् से संसार को अपना सन्देश दिया था। तभी, उस सुदूर अतीत में, उन्होंने एक ऐसी मानव-परिषद् का सपना देखा था जो मानव जाति के विकासक्रम में उसके द्वारा संचित समस्त उदात्त भावों का सम्पादन करे। उन्होंने चाहा था कि दैवी विभूतियों और ऋषियों के प्रेरणाप्रद निर्भीक उद्गार, आधुनिक वैज्ञानिकों के स्तम्भित कर देनेवाले आविष्कार, कवियों और कलाकारों की कल्पनाएँ, दार्शनिकों के विवेकपूर्ण चिन्तन और सर्वत्र रचनात्मक कार्यकर्ताओं के उन्नतिकारी कार्य—सब एक ही लक्ष्य की पूर्ति के लिए—धरती पर शान्ति और मानवों में पारस्परिक सौहार्द लाने के लिए-गतिशील बनें।

—'वेदान्त एंड द वेस्ट' से साभार।

—x—

स्त्री यदि वृद्ध हो तो अपनी माता समझो, युवती हो तो बहिन और छोटी हो तो अपनी संतान।

विवेकानन्द-शताब्दी-अभिभाषण

उ० थान्ट

इस संस्मरणीय समारोह में सम्मिलित हो, ऐसे प्रतिष्ठित समाज में अभिभाषण देने के लिए आमंत्रित होने से मैं निश्चय ही अपने को विशेष सम्मानित समझता हूँ। और इसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ विशेषकर स्वामीजी के प्रति, जिनके कारण मैं इसमें सम्मिलित हो सका हूँ। वास्तव में यहाँ आने के छः वर्ष पूर्व जब मैं रंगून में था, तो ब्रह्मदेश में होनेवाले रामकृष्ण मिशन के कार्यों से मेरा कई वर्षों तक घनिष्ठ सम्बन्ध था। पर जब से मैं न्यूयार्क में अपने इस नये कार्यक्षेत्र में आया हूँ, तब से, मेरा दुर्भाग्य ही कहिए, कार्याधिक्य के कारण इस नगर में होनेवाले रामकृष्ण मिशन के उदात्त कार्यों से सम्बन्धित न हो सका।

आज रात्रि हम स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी मना रहे हैं। यहाँ मेरे लिए उनके बहुतेरे विलक्षण कार्यों की चर्चा करना निरर्थक होगा; किन्तु मुझे जो स्वल्प समय उपलब्ध है उसमें मैं उनके मिशनरी कार्यों का निर्देश करूँगा, जो विशेषकर इस देश में हुए।

आपमें से अनेक जानते ही हैं कि स्वामी विवेकानन्द भारतवर्ष के, अथवा यों कहिये कि भारत के इतिहास में, और इसीलिए समूचे एशिया के इतिहास में भी, सबसे महान् आध्यात्मिक दूत थे। जहाँ तक मैंने इस

देश में हुए उनके कार्यों को समझा है, मैं कह सकता हूँ कि आज से साठ वर्ष पूर्व उनका संयुक्त राज्य अमरीका में जो ऐतिहासिक आगमन हुआ था उसका प्रमुख उद्देश्य था समन्वयकारी तत्वों की खोज। वे भारत और संयुक्त राज्य के बीच,यही नहीं बल्कि एशिया और पाश्चात्य के बीच, इस प्रकार मेल बिठाने को बड़े ही उत्सुक थे। स्वामी विवेकानन्द को समझने के लिए यह अति आवश्यक है कि हम भारत की, और इसीलिए समूचे एशिया की, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को समझ लें।

आपमें से अनेकों यह जानते हैं कि हम एशियावासी शरीर की अपेक्षा मन को अधिक महत्व देते हैं, और मन की अपेक्षा आत्मा को उससे भी कहीं अधिक। परम्परागत रूप से, और मैं 'परम्परा' शब्द पर जोर देना चाहूँगा, एशिया में शिक्षा का लक्ष्य यह खोज लेना है कि हमारे भीतर क्या घट रहा है, सत्य क्या है, और इसके फलस्वरूप अपने भीतर के सत्य को जान लेना है, मनुष्य के असाधारण नैतिक और आध्यात्मिक गुणों को समझ लेना है। दूसरे शब्दों में, एशिया में सदियों से शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति का परम्परागत उद्देश्य रहा है—अपने आप की पहचान और विनम्रता, गुरुजनों के प्रति आदर-भाव सरीखे आध्यात्मिक गुणों को जीवन में उतारने का प्रयत्न। जहाँ तक मैंने पश्चिमी देशों के शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्यों और आदर्शों को समझा है, पश्चिम में बुद्धि के विकास पर अधिक बल दिया

जाता है। यहाँ मनुष्य के बौद्धिक विकास को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया गया है। पश्चिम से मेरा मतलब अमेरिका का संयुक्तराज्य, पश्चिमी यूरोप और यूरोप के अन्य देशों से भी है। पश्चिम में शिक्षा का उद्देश्य डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि तैयार करना, अन्तरिक्ष की खोज करना तथा चन्द्र, मंगल एवं अन्य ग्रह-नक्षत्रों की यात्रा करना रहा आया है और अब भी है। यहाँ मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के विकास का कार्य न्यूनाधिक रूप से उपेक्षित ही है।

मेरी यह दृढ़ धारणा है कि नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति से शून्य निरी बौद्धिक उन्नति हमें निश्चय ही एक संकट से दूसरे में डालती जायगी। इसके विपरीत, आज बीसवीं सदी के मध्य में, इस आन्तरिक्ष और आणविक युग में, यदि हमने बौद्धिक विकास की अवहेलना कर केवल नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान दिया, तो वह भी एक भूल होगी, असम्बद्धता होगी। अतएव आज, बीसवीं सदी के इस उत्तरार्ध में आवश्यकता है एक प्रकार के समन्वय की, संयोजन की, मेल बिठानेवाली गतिविधि की, जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व पूरी तरह से अखण्डित बन जाय। मनुष्य का विकास बौद्धिक हो, नैतिक हो और आध्यात्मिक हो। तभी वह उन लक्ष्यों की प्राप्ति करने में समर्थ होगा, जो उसके अपने धर्म द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं।

सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में दो धारणाएँ हैं-- एक है पूर्वीय और दूसरी है पश्चिमी। यदि हम विश्लेषण

करके देखें कि इस देश के प्रति स्वामी विवेकानन्द के मिशन का प्रमुख उद्देश्य क्या था, तो मेरा ऐसा मत है कि वह इन दोनों धारणाओं में एक प्रकार का समन्वय स्थापित करना था, एक प्रकार की समरसता लानी थी। और आज, साठ वर्ष पश्चात्, तनावों के इस युग में यह और भी अधिक सत्य मालूम पड़ता है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि हम मानव-समाज के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों की उपेक्षा न करें, जो सदियों की परम्परा से हमें प्राप्त हुए हैं। ये गुण ही तो अखिल धर्मों का सार हैं।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, स्वामी विवेकानन्द के मिशन का एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू भी है और वह है मानवी सम्बन्धों में सहिष्णुता की आवश्यकता। और केवल धार्मिक सहिष्णुता ही नहीं, बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में सहिष्णुता। आज, तनावों के इस युग में, स्वामीजी का यह सन्देश भी अत्यन्त आवश्यक है--मैं कहूँगा कि साठ वर्ष पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक। यदि हम ऐतिहासिक प्रवाह के कतिपय पहलुओं पर विचार करें, तो देखेंगे कि कुछ सदियाँ पहले धार्मिक सहिष्णुता नाम की कोई चीज ही नहीं थी। वह कल्पना से परे की बात थी। उदाहरण के, लिये, जिहाद को ही लें। उस समय ईसाइयों का ऐसा विश्वास था कि जितने अ-ईसाई हैं वे सब के सब धर्मद्रोही हैं। और इस विश्वास में वे कट्टर थे। ऐसा ही मुसलमानों ने भी सोचा। सम्भवतः हिन्दुओं, बौद्धों और यहूदियों ने

भी इसी प्रकार सोचा होगा। पर जिहाद के समय का यूरोप का इतिहास बतलाता है कि मुसलमान भी ईसाइयों को उतनी ही कट्टरता के साथ धर्मद्रोही समझते थे। अतः ईसाई और मुसलमान दोनों ने एक दूसरे को तलवार के घाट उतारने का निश्चय कर लिया। उन दिनों ये मुसलमान 'जिहादी' (जिहाद करने वाला) के नाम से जाने जाते थे। अनेक जिहाद हुए, ईसाई और मुसलमान लाखों की संख्या में मरे। पर जब उनके विवेक-नेत्र खुले, तब ईसाई और मुसलमान दोनों समझने लगे कि ये दोनों महान् धर्म बिना कलह, युद्ध और मार काट के, शान्तिपूर्वक साथ-साथ रह सकते हैं। अब तो, इस बीसवीं सदी में धार्मिक सहिष्णुता दिखाई पड़ती है। हाँ, विश्व के कतिपय भू-भागों में कुछ अपवाद हो सकते हैं, पर साधारण तौर पर इतना तो कहा जा सकता है कि आज से सौ या दो सौ वर्ष पहले मानवता को जिस बात का अनुभव नहीं हुआ था, आज वह सत्य के रूप में सामने उपस्थित है। दो या तीन पीढ़ियाँ पहले धर्म के क्षेत्र में वह सहिष्णुता नहीं थी, जो आज है।

ठीक इसी भाँति, मैं कह सकता हूँ—और आप मुझसे अवश्य सहमत होंगे—कि आज बीसवीं सदी के इस उत्तरार्ध में राजनीतिक सहिष्णुता नहीं रह गयी है। यह कोई अचरज में डालनेवाली बात नहीं है। मनुष्य स्वभाव से ही घृणा और कटुता सरीखे मनोवेगों को पनपाना पसन्द करता है, और कभी-कभी तो वह पागलपन की सीमा में भी प्रवेश कर

जाता है। पर मेरी अन्तरात्मा कहती है कि भले ही अभी राजनीतिक सहिष्णुता नहीं दिखाई पड़ती है, तथापि सम्भव है कि इस संसार से विदा लेने के पहले हम उसे देख जायँ, अथवा आनेवाली एक या दो पीढ़ियों में उसके दर्शन हों। स्वामीविवेकानन्द ने जिस एक बात के लिए प्रयत्न किया, और विशेषकर अमेरिका के लोगों के लिए, वह इसी सहिष्णुता के भाव का प्रचार था, 'जीओ और जीने दो, तत्त्व का प्रसारण था, दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की सीख थी। मैं समझता हूँ कि स्वामीजी के उपदेशों में से यह एक महान् सीखने योग्य तत्त्व है।

जब हम कहते हैं कि स्वामीजी का अमेरिका में प्रमुख मिशन एक समन्वय की खोज थी, सहिष्णुता की अपील थी, तो हमें साथ ही यह भी समझने का प्रयास करना चाहिये कि सभ्यता और संस्कृति की धारणा क्या है? वास्तव में, सभ्यता की धारणा की परिभाषा करना अतीव कठिन है। मैं समझता हूँ, उसके सम्बन्ध में एक भ्रमात्मक कल्पना है। सर्वसाधारण लोगों में यह भाव पाया जाता है कि पश्चिम में एक प्रकार की सभ्यता है और पूर्व में एक दूसरे ही प्रकार की। मेरी समझ में यह भाव बिलकुल गलत है। सभ्यता हृदय के कतिपय गुणों को द्योतक है। उदाहरणार्थ, एक सभ्य भारतीय और एक सभ्य अमेरिकन में मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से, नैतिकता और आध्यात्मिकता की दृष्टि से कोई भेद नहीं किया जा सकता। पर एक सुसंस्कृत

भारतीय और एक सुसंस्कृत अमेरिक अपने ही देश में स्वयं को अपने अन्य देशवासियों की अपेक्षा बहुत भिन्न पायेंगे। अतः हम सभ्यता को किसी विशेष भू-भाग के तंग दायरे में नहीं बाँध सकते। वह तो प्रमुखतः हृदय और मन के गुणों से सम्बन्धित है।

एक और भ्रमात्मक धारणा प्रचलित है। वह यह कि युद्ध और वैर भाव सभ्यताओं और संस्कृतियों के संघर्ष से उत्पन्न होते हैं। मेरी राय में, यह भी एक गलत बात है। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होगा कि इंग्लैण्ड और फ्रांस तथा फ्रांस और जर्मनी के बीच सदियों युद्ध चलते रहे, यद्यपि उनकी सभ्यता और संस्कृति एक ही है। इसी प्रकार अनेक एशियाई देश भी सदियों से एक दूसरे के साथ युद्ध करते आये हैं, यद्यपि वे एक ही संस्कृति की छाया में पले और एक ही धर्मप्रणाली को माना। अतः संघर्ष और वैरभाव सर्वदा संस्कृतियों अथवा सभ्यताओं के संघर्ष से ही नहीं उत्पन्न होते। वे तो प्रमुखतः मानव-मन के पाप से पनपते हैं। वहाँ भौगोलिक सीमाओं की अपेक्षा नहीं रहती। मैं समझता हूँ, स्वामी विवेकानन्द ने अपने कई भाषणों और वक्तव्यों में इस तथ्य पर भी बल दिया है।

निःसन्देह उन्होंने अपने अनेक अमेरिकन मित्रों को ध्यान और चिन्तन की प्रक्रियायें सिखाने का प्रयत्न किया, क्योंकि अपने आप की उपलब्धि के लिए ये ही परम्परागत साधन रहे हैं। मैं ऊपर बता ही चुका हूँ कि एशिया में और विशेष-कर भारत में जो सहस्रों वर्षों से सांस्कृतिक वैभव से

सुसम्पन्न रहा है, शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य अपने अभ्यन्तर में चलनेवाली प्रक्रिया का अनुसन्धान करना रहा है। मैंने यह भी बताया है कि पश्चिम में शिक्षा का बल, परम्परागत रूप से, मनुष्य के बौद्धिक विकास पर रहा है। पर एशिया में, और विशेषकर भारत में, हम ध्यान और चिन्तन के सहारे अपने भीतर चलनेवाली घटनाओं का पता लगाने का प्रयास करते हैं। निस्सन्देह इसको समझना पाश्चात्य श्रोताओं के लिए दुरूह है। मैं समझता हूँ कि स्वामी विवेकानन्द ने ध्यान और चिन्तन की इन विधियों को बड़े ही सरल ढंग से पश्चिमी लोगों के सामने रखने का प्रयत्न किया, जिससे पाश्चात्यों का विकास एकांगी अर्थात् केवल बौद्धिक क्षेत्र में सीमित होने से बच जाये। उन्होंने ठीक ही यह अनुभव किया कि मात्र भौतिक विकास से हम अपने बहिरंग का ही पता पा सकते हैं। यदि अपने बहिरंग के बारे में स्पष्ट जानकारी चाहिये तो देखिये अमेरिका की ओर, यूरोप और रूस की ओर। पर इन देशों में आप अपने अन्तरंग की जानकारी न पा सकेंगे—अपना अन्तरंग उनके लिये मानो गूढ़ और अन्धकारपूर्ण अरण्य बना हुआ है। इसलिए वे यहाँ के लिए ध्यान और चिन्तन की विधि ले आये, और उन्हें कुछ अंशों में सफलता भी मिली, जो उनके आगमन के पश्चात् यहाँ प्रकाशित हुए बहुतेरे ग्रन्थों से स्पष्ट है। मैं समझता हूँ, ध्यान और चिन्तन की विधि के सम्बन्ध में उनके एक वक्तव्य को यहाँ पर पढ़ना सम्भवत: अप्रासंगिक न होगा।

ध्यान के सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं—"मन को किसी

क विषय पर केन्द्रित रखो, ध्यान तेल की अखण्ड धारा के समान होना चाहिए। साधारण मानव का मन अनेक विषयों में बिखरा रहता है, और ध्यान के समय भी पहले-पहल मन का इधर-उधर भटकना स्वाभाविक है। मन में कोई भी इच्छा क्यों न उठे, शान्ति से बैठे रहो और देखते रहो कि मन में किस प्रकार के विचार उठ रहे हैं। इस प्रकार देखते रहने से, धीरे-धीरे मन शान्त हो जाता है और विचार लहरियाँ स्थिर हो जाती हैं। ये लहरियाँ मन की विचार-प्रक्रिया की प्रतीक हैं। जिन बातों पर तुम पहले गम्भीर रूप से विचार किये होते हो, वे अवचेतन बिचारधारा में बदल जाती हैं और इसीलिए ध्यान के समय मन में वे ऊपर उठती हैं। ध्यान के समय इन लहरियों या बिचारों का ऊपर उठना इस बात का प्रतीक है कि तुम्हारा मन एकाग्रता की ओर अग्रसर हो रहा है।" मेरी समझ में, ध्यान और चिन्तन की इस अति उदात्त और वांछनीय कला के अभ्यास की यह सबसे सरल विधि है। आज भी इसका अभ्यास एशिया के कई भागों में किया जाता है।

फिर हम स्वामी विवेकानन्द के सन्देशों में ऐसे भी सन्देश पाते हैं, जो आज तनावों और संघर्षों के संकटमय काल की पृष्ठभूमि में बड़े ही महत्वपूर्ण हैं, समयानुकूल हैं। वे कहते हैं—"मैं इस देश में इसलिए नहीं आया हूँ कि आपके धर्म-विश्वास को बदल दूँ। मैं चाहता हूँ कि आप अपने ही धर्मविश्वास को पकड़े रहें। आप यदि मेथोडिस्ट हैं तो मैं आपको अधिक उत्तम मेथोडिस्ट बनाना चाहता हूँ, यदि

प्रिसबिटेरियन हैं तो श्रेष्ठतर प्रिसबिटेरियन और यदि यूनि-टेरियन हैं तो श्रेष्ठतर यूनिटेरियन।" इस सन्दर्भ में, उनका धार्मिक सहिष्णुता के प्रति जो दृष्टिकोण है, उसका यहाँ उद्धरण देना मैं उपयुक्त समझता हूँ। मेरे अनुभव में आज तक जितने विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्त आये हैं, उन सब में यह सर्वाधिक उदात्त है। वे कहते हैं—"मैं सभी प्राचीन धर्मों को स्वीकार करता हूँ और उनके साथ सम्मिलित होकर उपासना करता हूँ। वे जिस किसी रूप में ईश्वर की पूजा करें, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ उस-उस रूप में भगवान् की आराधना करता हूँ। मैं मुसलमानों की मस्जिद में जाऊँगा, ईसाइयों के गिरजाघर में जाकर क्रास के सामने घुटने टेकूँगा, मैं बौद्धों के मन्दिर में प्रवेश कर बुद्ध और उनके धर्म की शरण लूँगा, और बन में जाकर उस हिन्दू के साथ ध्यानस्थ होकर बैठूँगा जो सबके हृदय को प्रकाशित करनेवाली ज्योति के दर्शन करना चाहता है। न केवल मैं ये सब क्रियाएँ करूँगा, वरन् भविष्य में आनेवाली अन्य सब विधियों के लिए भी अपने हृदय के द्वार उन्मुक्त रखूँगा।"

अहा! कितने श्रेष्ठ उद्गार हैं! बन्धुओं, आज के इस शुभ अवसर पर जब हम सर्व काल के एक उच्चतम महापुरुष के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट कर रहे हैं, आइए, हम पुनरेव यह संकल्प ग्रहण करें कि हम ईसाइयों को श्रेष्ठतर ईसाई, हिन्दुओं को श्रेष्ठतर हिन्दू, मुसलमानों को श्रेष्ठतर मुसल-मान, बौद्धों को श्रेष्ठतर बौद्ध पौर यहूदियों को श्रेष्ठतर यहूदी बनायेंगे। —'वेदान्त ऐंड द वेस्ट' से साभार।

ध्यान में बैठने से पहले

[स्वामी अशोकानन्द]

(प्रस्तुत लेख में श्रीमत्स्वामी अशोकानन्दजी महाराज ने ध्यान के स्वरूप पर उतनी चर्चा नहीं की है, जितनी कि उसके प्रारम्भिक साधनों पर।)

ईश्वर सम्बन्धी उसी एक विचार का न टूटनेवाला प्रवाह ध्यान कहलाता है। मेरा विश्वास है कि इस ध्यान से मनुष्य उस सर्वोच्च सत्य की उपलब्धि सहज ही कर ले सकता है, क्योंकि यदि कोई एक विचार मन में लम्बे समय तक लगातार चलता रहे, तो अन्त में मन उस विचार से अभिभूत हो जाता है। यदि हम किसी भाव विशेष से मन को लगातार रँगते रहें, तो प्रारम्भ में भले ही मन की चाहे जैसी अवस्था रहे--वह आध्यात्मिक हो या न हो, उसमें ईश्वर के प्रति अनुरक्ति हो अथवा वह वासनाओं से विक्षुब्ध हो--पर कालान्तर में उसमें इच्छानुकूल परिवर्तन आयेगा ही।

श्रीरामकृष्ण इस तथ्य पर अधिक बल देते थे। इस विषय पर उन्होंने जो उपदेश दिये, उनमें से एक उपदेश को समझने में मुझे बहुत समय लगा। पर जब मैं उसे समझ गया--और आशा करता हूँ कि मैं उसे समझ

गया हूँ—तो मैंने उसमें महती सम्भावना और आशा देखी। वे कहते थे कि मन मानो रँगरेज के यहाँ का कपड़ा है। कपड़े को जिस रंग में डुबाओ, वह वही रंग ले लेता है। पहले तो मैं सोचता था कि श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य यह है कि मन को भगवच्चिन्तन में डुबोकर ईश्वर के रंग में रँगने के लिए उसे पहले पूरी तरह पवित्र बना लेना चाहिए। पर इसमें तो कोई विशेष उत्साह की बात नहीं है, क्योंकि प्रायः सभी आध्यात्मिक साधकों के समक्ष मन की शुद्धि ही सबसे बड़ी समस्या रही है। इस प्रकार की पवित्रता को पा लेना मानो तीन-चौथाई युद्ध को जीत लेना है, क्योंकि जब मन पूरी तरह शुद्ध हो जाता है, तो आध्यात्मिक अनुभूति स्वतः ही उपस्थित होती है। पर जब मैं श्रीरामकृष्ण की इस उपमा पर मनन करने लगा, तो बात कुछ अलग ढंग से मेरी समझ में आने लगी। जब उन्होंने मन की उपमा रँगरेज के कपड़े से दी, तो उनका तात्पर्य साधारण मन से था—जो मन सांसारिक और विरोधी विचारों एवं भावनाओं से ठसाठस भरा होता है, जो ईश्वर सम्बन्धी विचारों से विमुख होता है। उन्होंने जिस मन की उपमा रँगरेज के कपड़े से दी, वह शुद्ध किया हुआ मन न था, प्रत्युत् वह ऐसा था जो चाहे जिस दशा में हो। मेरी समझ में उनका तात्पर्य यह था कि यह साधारण मन भी यदि ईश्वर-चिन्तन में डुबा दिया जाय, तो वह आध्यात्मिक रंग ले लेगा।

यह एक अद्भुत रूप से उत्साहवर्धक और सहायक मनो-

वैज्ञानिक सत्य है, पर आध्यात्मिक साधकगण बहुधा इसे भूल जाते हैं। एक समय कोई व्यक्ति श्रीरामकृष्ण के पास आया और कहने लगा, "मैं अपने मन को बश में नहीं कर पा रहा —उसका उपाय भी नहीं जानता।" श्रीरामकृष्ण ने इस पर कहा, "तुम अभ्यास-योग क्यों नहीं साधते ?" अभ्यास-योग का तात्पर्य है—मन को बारम्बार ईश्वर के चिन्तन में वापस लाना। भगवद्गीता में इस साधन की विशेष चर्चा की गयी है। प्रारम्भ में मन यदि इधर-उधर घूमता हो तो घूमे न, पर हाँ, हमें उस मन को खींचकर बारम्बार ईश्वर में लगाना चाहिए। यदि हम इसे स्मरण रख सकें, तो आधा युद्ध तो जीत ही लिया गया। पर दुर्भाग्य से बहुधा हम इसे भूल जाते हैं और दूसरी बातों में मन को लगा देते हैं तथा आध्यात्मिक जिज्ञासा को पूर्णतः बिसरा देते हैं। ऐसी दशा में, मैं समझता हूँ, आत्मसंयम और ध्यान के उपायों से सम्बन्धित कतिपय बातों की चर्चा करना लाभ-दायक होगा।

ध्यान के लिए मन की कौनसी अवस्था उपयुक्त है ? मैं समझता हूँ, आप सब उसे 'शान्ति' के रूप से जानते हैं। यह कोई बलपूर्वक प्राप्त शान्ति नहीं है, बल्कि वह ऐसी शान्ति है जो प्रबलतम वासनाओं के क्षीण होने से उपजती है। जो बातें मन को विक्षुब्ध करती हैं—वे चाहे भीतर से उठी हों अथवा बाहर से आयी हों--हमारी गुप्त, प्रकृतिगत वासनाओं से सम्बन्धित होती हैं। हम सदैव किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यद्यपि हम जी-तोड़

परिश्रम करते हैं, तथापि बहुधा हम असफल हो जाते हैं, और असफलता मन को प्रक्षुब्ध कर देती है। यदि सफलता मिलती भी है, तो परिणाम बड़े विचित्र होते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब हम अपनी काम्य वस्तुओं का उपभोग करते होते हैं, तो वे हमारी पकड़ से दूर चली जाती हैं। इससे हमें निराशा होती है और ऐसा लगता है मानो हम छले गये हैं। इसके विपरीत, जब हम इस प्रकार निराश नहीं होते, तो उपभोग्य वस्तुओं के प्रति आसक्त हो जाते हैं। पर उपभोग तो लगातार तीव्र नहीं हो सकता, अतएव परिणामस्वरूप ऊब आती है। ये सभी प्रतिक्रियाएँ मन को अनवरत चंचल बनाये रखती हैं—चाहे वह चंचलता सुखमय हो या दुःखमय। इस तरह हम देखते हैं कि जो विचार हमारे मन को भगवद्भाव में बैठने नहीं देते वे हमारी वासनाओं के विषयों से सम्बन्धित होते हैं, और जब हम अपनी प्रबलतम वासनाओं को निर्मूल करने में समर्थ होते हैं तभी मन अपेक्षाकृत शान्त भाव धारण करता है।

मनकी इस अपेक्षाकृत शान्तिमय स्थिति को हम 'प्रत्याहार' का प्रारम्भ कहते हैं। इस स्थिति में यद्यपि मन कभी-कभी चंचल हो जाता है,तथापि दूसरे समय वह शान्त रहता है। जब वह विषयभोगों के सम्पर्क में आता है, तब चंचल हो जाता है, अन्यथा वह बहुत कुछ शान्त रहता है। यह बड़ी अनुकूल अवस्था है। जब देखो कि तुम यदि चंचल बना देनेवाली वस्तुओं के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं हो, तो तुम्हारा मन स्वाभाविक रूप से शान्त है, जब अनुभव करो कि तुम अकेला

होना पसन्द करते हो और तुममें एक गम्भीर्य भाव आया है, तो समझ लेना कि ऐसी स्थिति बड़ी ही वांछनीय है। मन की ऐसी अवस्था में तुम्हें यथाशक्ति ध्यान के अभ्यास में लग जाना चाहिए, उसकी उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिए।

मैं यह बता देना चाहूँगा कि मन बड़ा परिवर्तनशील होता है। ऐसा न सोचना कि एक बार मन की वांछित स्थिति प्राप्त हो जाने पर वह उसी प्रकार बनी रहेगी। हो सकता है कोई बात भीतर से उठे अथवा बाहर से आये, जो तुम्हें विचलित कर दे। ऐसी दशा में मन को फिर से शान्त भाव धारण करने में कभी-कभी पाँच तो कभी दस वर्ष भी लग जाते हैं, जैसे तूफान के बाद समुद्र को शान्त होने में दिनों लग जाते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हम कभी भी पूर्णतः सुरक्षित न हो सकेंगे। निस्सन्देह मन की एक ऐसी स्थिति है, जहाँ पहुँच जाने पर किसी प्रकार का भय नहीं रहता, पर वह एक बहुत ऊँची अवस्था है। जब व्यक्ति इस चरम एकाग्रता की स्थिति पर पहुँच जाता है, तो वह अपने पीछे के पुलों को तोड़ देता है। वह ऐसी स्थिति पर पहुँच चुका होता है जहाँ संसार की वस्तुएँ उसे और आकर्षित नहीं कर पातीं, जिस जगत् को वह पीछे छोड़ चुका है उसके प्रति उसका मन अब और लुब्ध नहीं होता। वह सुरक्षित हो जाता है।

दो

मान लो हम ऐसी स्थिति में पहुँच चुके हैं, जिसमें मन

यद्यपि कभी-कभी चंचल रहता है तथापि दूसरे समय शान्त रहता है। ऐसी दशा में ध्यान में सफल होने के लिए हमें क्या करना चाहिए।

(१) सर्वप्रथम हमें दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि हम अभ्यास में एकदम नियमित रहेंगे। जिस प्रकार अपनी अनिवार्य शारीरिक आवश्यकताओं के प्रति हम सर्वदा सचेत और तत्पर रहते हैं--चाहे कुछ भी हो पर हम उनके लिए समय निकाल ही लेते हैं, उसी प्रकार हमें ध्यान के अभ्यास के प्रति भी निष्ठावान् होना चाहिए। श्वास-प्रश्वास के समान ही ध्यान को भी जीवन का अंग बन जाना चाहिए। हमारे देश में, जब कोई व्यक्ति बहुत व्यस्त होता है तो कहता है, 'मुझे साँस लेने तक की फुरसत नहीं है।" पर यथार्थ में, वह साँस तो लेता ही है। उसी प्रकार हमें ध्यान के प्रति तत्पर होना चाहिए। भले ही प्रारम्भ में ध्यानाभ्यास की इच्छा उतनी तीव्र न दीखती हो, पर मन में दृढ़ निश्चय कर लो, अपने आप से कहो, "मैं ध्यान करूँगा ही।"

श्रीरामकृष्ण मुसलमानों की प्रार्थना सम्बन्धी वक्त की पाबन्दी की बहुधा प्रशंसा करते थे। इस देश (इंग्लैण्ड) में मुसलमान उतने नहीं हैं, पर भारत में उनकी संख्या बहुत है। मुसनमान चाहे जहाँ हो, चाहे जो करता हो, पर ज्योंही नमाज का समय हुआ कि वह सब काम बन्द कर देता है, वुजू करता है और गमछे को जमीन पर बिछाकर कम से कम पन्द्रह मिनट तक नमाज पढ़ता है। यदि आवश्यकता

हुई तो सड़क के किनारे भी गमछा बिछाकर नमाज़ पढ़ने से वह नहीं हिचकता। उसके इस नियम में व्यतिक्रम नहीं होता। यदि कोई कहे कि मुझे ध्यान करने के लिए समय नहीं मिलता, तो उसकी बात में कोई युक्ति नहीं। हाँ, कभी-कभार ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जब किसी को सचमुच ही समय नहीं मिल पाता। पर यह कहना कि "मैं तो व्यस्त रहता हूँ कि उसके लिए समय नहीं निकाल पाता" अथवा यह कि "मैं शाम को इतना थक जाता हूँ कि ध्यान में बैठना सम्भव नहीं हो पाता"--केवल टाल-मटोल है। जो ऐसे तर्क उपस्थित करता है, उसे समझना चाहिए कि सन्ध्या के लिए कुछ शक्ति बचाकार रखने से उसे कोई रोक नहीं सकता। पर वह अपनी सारी शक्ति दिन के समय दुनिया-भर की अन्य बातों में खर्च कर देगा—और कभी-कभी तो हानिकारक बातों में—और शाम होने पर ध्यान न कर सकने के लिए अपने तईं झूठे तर्क उपस्थित करेगा। यदि उससे इस सम्बन्ध में पूछो, तो कहेगा, "मुझे अधिक नींद चाहिए, मैं थका हूँ। सुबह उठकर आफिस जाने की भाग-दौड़ रहती है। समय है कहाँ?"

हमारे यहाँ एक गीत प्रचलित है, जिसमें बताया गया है कि अपना सारा जीवन मूर्खतापूर्ण बिताने के बाद अन्त-अन्त में एक मनुष्य को अपनी भूल समझ में आती है और वह कह उठता है, "प्रभु, संसार की अन्य सब बातों के लिए मुझे समय मिला, पर तेरे ध्यान के लिए मैं समय न निकाल

सका !" मानवी मन की इस विचित्रता को तो देखो ! हमारे जीवन में बाकी सभी बातों के लिए समय और स्थान है, पर ध्यान करने के लिए हमें दिन में पन्द्रह मिनट का भी अवकाश नहीं है ! यदि तुम मुझसे कहो कि तुम्हें समय नहीं मिल पाता अथवा तुममें शक्ति नहीं रह जाती, तो क्या समझते हो कि मैं तुम्हारी बात का विश्वास कर लूँगा ? मैं तो यही कहूँगा कि तुम आत्मप्रवंचना कर रहे हो। जहाँ इच्छाशक्ति है, वहाँ रास्ता है। यदि तुमने संकल्प कर लिया तो नित्य तुम ध्यान के लिए समय निकाल सकते हो।

यहाँ पर एक बात के लिए मैं सचेत कर देना चाहूँगा, क्योंकि मैं जनता हूँ कि निराशा आती है। कभी-कभी ध्यान के समय मन अद्भुत रूप से कार्य करता है, वह सहज ही शान्त और एकाग्र हो जाता है, और तुम उत्साहित हो जाते हो। पर यदि दूसरे समय वह ठीक व्यवहार न करे, शान्त होना नामंजूर कर दे और तरह-तरह के विचारों से चंचल होता रहे, तो हो सकता है तुम कह बैठो, ध्यान करने से कोई लाभ नहीं। प्रयत्न तो करता हूँ, पर कोई फल नहीं।" यहाँ पर मैं तुम्हें बताना चाहूँगा कि यदि जन्म से ही तुम उदात्त मानसिक गुणों के साथ उत्पन्न नहीं हुए हो और आध्यात्मिक विकास की प्रकर्ष अवस्था में पहुँचे हुए नहीं हो, तो अन्य सभी साधकों की भाँति तुम्हें भी मन के उतार-चढ़ाव देखने होंगे। पर इससे हताश न होओ। ऐसा न सोचो कि जब तक मन पर्याप्त रूप से आध्यात्मिक नहीं हुआ

है तब तक तुम ध्यान करने के योग्य नहीं हो। कुछ लोगों ने पूछा है, "मन की निम्न अवस्था में मैं ईश्वर की ओर कैसे जा सकता हूं?" यदि तुम्हें सर्दी लगती है क्या ऐसा कहोगे, "मुझे ठंड लग रही है, अतः पहला काम है आग के पास जाऊँ और अपने को गर्म कर लूँ?" यदि अपने भीतर तुम आध्यात्मिकता का अभाव देखते हो, तो वही तो ईश्वर का ध्यान करने का सबसे उचित समय है।

स्वयं को मन के द्वारा गुमराह न होने दो। मन तुम्हें कितने ही प्रकार से छल सकता है—कभी प्रत्यक्ष रूप से छलेगा, तो कभी धर्म के ही नाम पर गुमराह कर देगा। "मैं पर्याप्त आध्यात्मिक नहीं हूँ" ऐसा सोचकर तुम ध्यान करने से जो आनाकानी करते हो, वह मन का ही एक छल है। तुम्हारी मानसिक दशा कैसी भी क्यों न हो, भले ही तुम्हारा मन निम्न विचारों से भरा हो, पर ईश्वर के चिन्तन का प्रयत्न करो। हाँ, यह सम्भव है कि तुम इच्छानुसार ईश्वर का चिन्तन या उनका ध्यान न कर सको, पर उससे क्या हुआ? प्रयत्न करते रहो। बदमाश घोड़ा दुलत्तियाँ झाड़ता है, अलफ होता है और सवार को फेंक देने की कोशिश करता है, पर यदि सवार दृढ़ता से जीन पर बैठा रहे तो घोड़ा शान्त हो जाता है और जान लेता है कि उसे स्वामी मिल गया। मन भी इसी भाँति बर्ताव करता है। पहले तो वह तुम्हें विचलित करने का प्रयत्न करेगा, पर जब देखेगा कि तुम विचलित होनेवाले नहीं हो, तो वह

तुम्हारा गुलाम हो जायगा। यही मन का रहस्य है, अतः उसकी दशा के सम्बन्ध में मत सोचो। उस पर सवार होने का निश्चय कर लो, और यह निश्चय ही, जिसमें ध्यान है, अपने आपमें एक विजय है।

तीन

(२) इसके बाद ध्यान के लिए तुम एक नियत समय बना लो। मेरे मत से, मनुष्य को दिन में कम से कम दो बार ध्यान करना चाहिए। यदि दो बार न जमे, तो एक बार उसे अवश्य ही करना चाहिए—चाहे प्रातःकाल हो या सन्ध्या के समय।

भारत में हम लोग ध्यान के लिए चार मुहूर्त उपयुक्त समझते हैं। एक है ब्राह्म मुहूर्त—सूर्योदय से कम-से-कम एक घंटा पहले, उस समय तब भी अँधेरा रहता है, यह ध्यान करने का बड़ा अच्छा समय है। इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा बाद में करेंगे। दूसरा मुहूर्त है—दोपहर। शहरों में इस मुहूर्त से कौन सा विशेष लाभ उठाया जा सकता है यह तो मैं नहीं कह सकता, पर गाँवों में, और विशेषकर उष्णकटिबन्धीय देशों में, निस्सन्देह उसकी उपादेयता है। इस समय एक प्रकार का सन्नाटा छाया रहता है और प्रकृति मानो स्थिर रूप धारण करती है। उस समय गर्मी के मारे पक्षी तक नीरवहो जाते हैं और अपने को वृक्षों

की पत्तियों में छिपा लेते हैं। मनुष्य भी शान्त रहते हैं, बहुधा वे उस समय विश्राम करते हैं और निश्चित रूपेण शान्ति का भाव सर्वत्र छाया रहता है। मुझे तो अपने देश में ऐसा ही लगता था। वहाँ अनेक लोग इस समय ध्यान और उपासना किया करते हैं।

ध्यान का तीसरा मुहूर्त है—सायंकाल। दुर्भाग्य से इस देश में उस समय ध्यान करना कठिन है, क्योंकि वह भोजन का समय होता है। तथापि वह ध्यान का उत्कृष्ट समय है। यदि हो सके तो भोजन के कुछ पहले ध्यान का अभ्यास कर सकते हो, पर भोजन के तत्काल बाद ध्यान करना ठीक नहीं, क्योंकि उससे पाचनक्रिया पर बुरा असर पड़ सकता है और स्वास्थ्य नष्ट हो सकता है।

चौथा मुहूर्त है-मध्यरात्रि। संसार के इस भाग में रात के बारह बजे भी उतनी शान्ति नहीं रहती, पर तो भी उस समय मनुष्य एक प्रकार की निस्तब्धता का अनुभव करता है। जहाँ पर्याप्त शान्ति रहती है, वहाँ मध्यरात्रि ध्यान के लिए विशेष उपयुक्त है। वास्तव में कई लोगों का विश्वास है कि ध्यान के लिए मध्यरात्रि ही सर्वोत्कृष्ट समय है।

ब्राह्म मुहूर्त के ध्यान में सायंकाल के ध्यान की अपेक्षा कुछ अधिक विशेषता है। रात की नींद के बाद मन शान्त रहता है। उस समय मन पर पूर्व दिन के पड़े सारे संस्कार तिरोहित-से रहते हैं, जैसे स्कूल के बाद किसी ने तख्ते को साफ पोंछ दिया हो। फिर, उस समय प्रकृति भी निस्तब्ध

रहती है और शहर भी पूरा जगा हुआ और कोलाहलपूर्ण नहीं रहता। फलतः मन को शान्त करना अपेक्षाकृत सरल मालूम होता है। एक दूसरा लाभ यह है कि दिन के प्रारम्भ होने के पूर्व ध्यान करके तुम अपने मन को आध्यात्मिक गति और दिशा प्रदान करते हो। भले ही दिन के बढ़ने के साथ-साथ वह आध्यात्मिक शक्ति और उत्साह कुछ क्षीण होता हुआ मालूम पड़े, तथापि कई घंटों तक वह बना रहता है और दिन के अधिकांश भाग तक वह तुम्हें उत्साहित किये रखता है।

मैं यहाँ पर बता दूँ कि कुछ लोगों के लिए भोर की अपेक्षा सन्ध्या ही ध्यान का अधिक उपयुक्त समय हो सकती है। कुछ लोगों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे दिन के ऊपर उठने के साथ-साथ अधिक सजग होते जाते हैं। सुबह वे केवल अर्धजागृत होते हैं, पर सन्ध्या होते-होते वे पूरी तरह जम जाते हैं और उनकी बुद्धि स्वच्छ और पैनी होकर अद्भुत रूप से कार्यक्षम हो जाती है। ऐसे लोगों के लिए सन्ध्या या रात्रि निस्संदिग्ध रूप से ध्यान का अधिक उपयुक्त समय साबित होगी। ध्यान के लिए विशेष रूप से उपयुक्त इन चार मुहूर्तों में यदि एक भी तुम्हारे पल्ले न पड़े तो कोई भी समय चुन लो जो तुम्हारे लिए सर्वाधिक सुविधापूर्ण हो और दृढ़ निश्चय के साथ उससे लगे रहो। ध्यान के लिए नियत समय का दृढ़ता के साथ पालन करना बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मन आदत के अनुसार कार्य

करता है। यदि मन को लगातार कई दिनों तक एक नियत समय पर एक विशिष्ट ढंग से सोचने और अनुभव करने के लिए बाध्य किया जाय, तो वह उस नियत समय के आते ही अपने आप उसी ढंग से सोचने और अनुभव करने लगेगा। यदि हम एक निर्दिष्ट समय में ईश्वर का ध्यान करें, तो उस निर्दिष्ट समय के सन्निकट आते ही हमारा मन बिना किसी प्रयत्न के ईश्वरी भाव से भावित हो जायगा। अभ्यास की नियमितता से प्राप्त होनेवाला यह लाभ कोई छोटा-मोटा नहीं है।

(३) जिस प्रकार ध्यान के लिए तुम लोग एक नियत समय रखोगे, उसी प्रकार उसके लिए एक स्थान भी निर्दिष्ट कर लो। मन्दिरों और गिरजाघरों का यही एक बड़ा लाभ है। लोग इन स्थानों में ईश्वर के सम्बन्ध में सोचा करते हैं, इसलिए वहाँ की हवा तक पवित्रता और ईश्वर-भाव से भरी रहती है। वहाँ जाने से ही मन ऊपर उठ जाता है। मन्दिर या गिरजाघर का यह वातावरण तुम अपने कमरे के कोने में भी ला सकते हो। जहाँ पर भी कोई विचार-प्रवाह तीव्रता के साथ अविकल रूप से बहता है, वह स्थान उस विचार के स्पन्दनों से भर जाता है। इसका कारण यह हो सकता है कि भौतिक वातावरण और परिवेश शरीर से सम्बन्धित रहते हैं और शरीर, मन के विचारों के अनुरूप स्पन्दित होता है। यदि हमारे विचार शुद्ध हैं, तो हमारा शरीर भी उस शुद्धता को प्राप्त होता है जिसे हम आध्यात्मिक

स्पन्दन कह सकते हैं। स्वाभाविक ही, शरीर के इस परिवर्तन के साथ बाहर का वातावरण भी बदल जाता है।

इस प्रकार, ध्यान का तुम्हारा निर्दिष्ट स्थान आध्यात्मिक ऊर्जा से भर-भर जायगा; वह आध्यात्मिक स्पन्दनों से इतना ओत-प्रोत हो जायगा कि ज्योंही तुम उस स्थान पर पहुँचोगे, त्योंही तुम्हारा मन ध्यान के भाव से भावित हो उठेगा। मानो जादू के-से स्पर्श से वह शान्त हो जायगा और तुम संवेदनीय ईश्वर-भाव का अनुभव करोगे। कितना बड़ा लाभ है यह! और यह चमत्कार-सा दिखनेवाला कार्य तुम एक सहज उपाय से सिद्ध कर सकते हो, वह है—ईश्वर के चिन्तन के लिए एक अलग स्थान रख देना और नियमित समय पर वहाँ ध्यान का अभ्यास करना।

(क्रमशः)

—'वेदान्त फार ईस्ट ऐंड वेस्ट' से साभार।

—x—

ईश्वर एक है, किन्तु उसके रूप अनेक हैं। वह सबका निर्माता है, और वह स्वयं ही मानव-देह धारण करता है।

—गुरुनानक

महान् पुरुषार्थी कनफ्यूशियस

(रामेश्वर नन्द)

मनुष्य की ज्ञान-पिपासा कभी तृप्त नहीं हुई। आज जो कुछ भी हमारे पास सभ्यता, संस्कृति या विज्ञान के नाम पर उपलब्ध है, वह हमारे इसी पिपासा-शान्ति के प्रयासों का परिणाम मात्र है। मनुष्य अपनी इस अतृप्त पिपासा को तृप्त करने के लिये चिरकाल से ज्ञान की खोज में व्यस्त रहा है, मग्न रहा है। इसका परिणाम भी लाभप्रद ही सिद्ध हुआ है। इसी खोज और जिज्ञासा के फलस्वरूप ज्ञान-भण्डार क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता रहा है, विभिन्न विषयों पर विशद ग्रन्थ रचे जाते रहे हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी नित नई चीजें प्रकाश में आती रही हैं। किन्तु जिस प्रकार एक ही नदी से सारे विश्व की प्यास नहीं बुझाई जा सकती, उसी प्रकार एक ही विषय या विज्ञान द्वारा भी सारी शंकाओं का समाधान नहीं हो सकता। यही कारण है कि समय समय पर विभिन्न देशों में विभिन्न विषयों की ज्ञान-सरिता विभिन्न मस्तिष्कों से प्रवाहित होती रही है। प्रत्येक ज्ञानपूत एक स्वतंत्र चिन्तन का स्रोत रहा है।

आज से दो हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व, चीन में भी एक सर्वथा नई ज्ञान-सरिता प्रवाहित हुई थी—एक ऐसे ही ज्ञान-पूत द्वारा, जिसे सारा विश्व आज कनफ्यूशियस के नाम से

जानता है। ठीक उन्हीं दिनों भारत में भगवान् बुद्ध भी एक नई चिन्तन-धारा से, भारत के दर्शन और धर्म के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी प्रवाह लेकर प्रस्तुत हुए थे। कनफ्यूशियस का ही समकालीन एक और महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय था लाओत्जे का 'ताओ' धर्म। 'ताओ' धर्म बड़ी सीमा तक हिन्दूधर्म के औपनिषदिक विचारों के समीप था। उसमें ईश्वर की अनिर्वचनीयता एवं लोक-परलोक तथा जन्म-मरण संबंधी गूढ़ विषयों पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया था। किन्तु कनफ्यूशियस, इसके विपरीत, पूर्णरूपेण मानवतावादी थे। थीलिन यूतांग अपनी पुस्तक, 'विजडम आफ कनफ्यूशियस' में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि उनके धर्म का आधार-केन्द्र मनुष्य था। यही कारण है कि तत्कालीन ताओ धर्म पर यह मानवधर्म कहीं अधिक विजयी प्रमाणित हुआ। इस समय तिहाई चीन का लगभग भाग इसी मत को मानता है।

अब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि वह महान् पुरुष कौन था, जिसे संसार के इतने बड़े देश में कोई बीस करोड़ लोग ईश्वर मान बैठे, जिसके उपदेश उनके लिये धार्मिक मंत्र या धार्मिक सूक्ति बन गये, जिसके नाम पर आज न जाने कितने ही मन्दिर खड़े हैं, जिसकी घर-घर पूजा होती है। क्या वह कोई अवतार था? चमत्कारिक कार्य करने वाला पैगम्बर या देवदूत था? अथवा हमारी तरह एक साधारण व्यक्ति मात्र था, जिसने अपने पुरुषार्थ और परिश्रम से यह सफलता प्राप्त की?

इस सम्बन्ध में उनके स्वयं के शब्द कितने स्पष्ट हैं—

"जहाँ तक मेरे संत या साधु होने की बात है, मैं भ्रान्ति में नहीं रखूँगा। मैं स्वीकार कर सकता हूँ कि मैंने दूसरों को शिक्षा देने की अनवरत चेष्टा की है। क्या तुम समझते हो, मैं बहुत सारी बातें जानता हूँ? मैं नहीं जानता। कोई एक अशिक्षित व्यक्ति था। उसने किसी एक विषय पर मुझसे प्रश्न किये। मैं कुछ भी उत्तर न दे सका। कुछ इधर-उधर की बातें करके ही मेरी बुद्धि शेष हो गई।"

इस प्रकार के उद्‌गार यत्र-तत्र हमें उनके जीवन और उपदेश में प्राप्त होते हैं। उन्होंने सदैव और स्पष्ट शब्दों में अपने शिष्यों को बताया था कि वे अवतार या देवदूत नहीं थे।

किन्तु मनुष्य स्वभाव से ही व्यक्ति-निष्ठ होता है। किसी भी धर्म की बात लीजिये। उपदेशों से अधिक, व्यक्ति का झुकाव उपदेष्टा की ओर रहा है। शिक्षा से अधिक शिक्षक को लेकर रक्तपात मचाया गया है। मनुष्य की बुद्धि ही ऐसी है कि जहाँ हार गई, थक गई, वहाँ उसे एक रहस्य, एक गूढ़ तत्व का बोध होने लग जाता है। विलक्षणता और रहस्यप्रियता प्रारंभ से ही उसके लिये जिज्ञास्य विषय रहे हैं। जहाँ किसी मनुष्य के गुण या कार्यों में उसे किसी असामान्यता के दर्शन हुए कि वह नतमस्तक हो गया। उस व्यक्तिविशेष को देवी-देवता या असुर की कोटि में रख दिया। मनुष्य स्वभाव की यह एक विचित्र बात है कि—उसने जहाँ एक ओर धर्म और दर्शन, जीवन और चिन्तन पर प्रकाश डालने वाले महापुरुषों को ईश्वर का प्रतीक मान

लिया, उसको पूजा कर लो, वहीं दूसरी ओर बड़े से बड़े वैज्ञानिक चमत्कार देखकर भी न जाने क्यों, उसने किसी वैज्ञानिक की पूजा न की ! उसे ईश्वर का दूत या पैगम्बर नहीं समझा ! कदाचित् इसका यही कारण हो कि जहाँ विज्ञान हमें रहस्यों का हल प्रदान कर हमारी जिज्ञासा को हलकी कर देता है वहीं धर्म और दर्शन सहज सरल तत्वों को गूढ़-गहन बनाकर हमारी रहस्य प्रियता के अनुकूल ही काम करते हैं ।

भगवान् बुद्ध की तरह कनफ्यूशियस ने भी बार-बार अपने शिष्यों को पुरुषार्थ पर विश्वास करने की शिक्षा दी थी । लोक-परलोक की शिक्षा उन्होंने प्रायः नहीं दी । जब कभी किसीने प्रश्न किया, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया "जब हम जीवन के विषय में ही ठीक से नहीं जानते तो मृत्यु के विषय में कैसे कह सकते हैं ?

पर जैसा कि हमेशा हुआ है वही हुआ । कनफ्यूशियस के शिष्यों ने उनके नाम पर एक धर्म ही चला दिया । बड़े-बड़े मन्दिर बनवा दिये । उन्हें आदमी से पत्थर, और सरल जटिल बना दिया ।

इस महापुरुष की शिक्षाओं को समझने के लिये उनका सही मूल्यांकन कर पाने के लिये, हमें उनके व्यक्तिगत जीवन को भी समझ लेना आवश्यक है । क्योंकि, संसार में जब भी कोई महत्वपूर्ण क्रान्ति, परिवर्तन या सुधार हुआ है, वह कोरे शब्दों से नहीं बल्कि उस महापुरुष के वैयक्तिक जीवन और आचरण के प्रभाव से हुआ हैं जो उस क्रान्ति या

सुधार का जन्मदाता था।

कनफ्यूशियस का जन्म ईसा पूर्व ५५१ वर्ष में चीन देश के चंगपींग प्रदेश के त्सौ नगर में हुआ। इसके पिता की उम्र ६४ वर्ष की हो गई थी, पर उन्हें कोई पुत्र न हुआ। इसलिये उन्होंने उस वृद्धावस्था में चेनसाई नामक येन वंश की एक कुमारी से पुनः ब्याह किया। यह कुमारी प्रतिदिन पुत्र-प्राप्ति की कामना से ईश्वर से प्रार्थना करती थी। अन्त में विवाह के छः वर्ष पश्चात् ईश्वर ने उसकी प्रार्थना सुन ली और कनफ्यूशियस का जन्म हुआ। कनफ्यूशियस के पिता जो इस समय ७० वर्ष के थे, पुत्र-प्राप्ति के तीन वर्ष पश्चात् ही चल बसे। उनके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। फिर भी किसी प्रकार उनकी माता ने उनकी शिक्षा-दीक्षा की पूर्ण व्यवस्था की। एक दिन जब कुछ पंडितों ने उस बालक के लक्षण देखकर, उसकी कुशाग्र बुद्धि की प्रशंसा की तो माता के हर्ष का ठिकाना न रहा। कनफ्यूशियस का मूल नाम कुंग फुत्जे था। कनफ्यूशियस शब्द इसी नाम के लैटिन नामकरण 'कान फुशियास' का अपभ्रंश मात्र है। कुंग फुत्जे की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने संगीत, युद्धविद्या, गणित, इतिहास, प्राचीन साहित्य आदि विभिन्न विषयों का गहन अध्ययन किया था। जिस किसी भी विद्याको वे पढ़ना आरंभ करते, उस पर पूर्णता प्राप्त किये बिना उन्हें चैन न पड़ता। इतिहास और संस्कृति के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। विद्याध्ययन की पद्धति के विषय में वे कहते हैं—"किसी भी विषय को पढ़ना ही पर्याप्त नहीं हैं, उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना

चाहिये। मैं जन्म से ज्ञानी नहीं था। मैंने ज्ञान प्राप्त करने के लिये कड़ा परिश्रम किया।...... यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि तुम क्या पढ़ते हो। किन्तु एक बार जब तुम किसी चीज को पढ़ना शुरू करो तो तब तक उसे न छोड़ो, जब तक उस पर पूर्णता प्राप्त न हो जाय। यह बात विशेष महत्त्व की नहीं कि तुम क्या जानना चाहते हो, किन्तु एक बार जब समझना शुरू करो, तो तब तक उसे न छोड़ो जब तक वह बात पूरी तरह से समझ में न आ जाय। जब एक बार विचार करना शुरू करो तो तब तक उसे न छोड़ो, जब तक तुम्हें वह वस्तु प्राप्त न हो जाय, जिसका विचार कर रहे थे। यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है कि तुम क्या करना चाहते हो, परन्तु तब तक अपना काम न छोड़ो जब तक उसे ठीक से पूरा न कर लो।"

कनफ्यूशियस ने जो भी शिक्षाएँ अपने शिष्यों को दीं, उन्होंने स्वयं उसका अक्षरशः पालन किया। उनके शब्द कोरे उपदेश न थे। वे आत्मा-परमात्मा पर आधारित गूढ़ विषय न थे। उनके उपदेश ऐसे थे, जिनका कोई भी व्यक्ति निष्ठा पूर्वक पालन करके, परिणाम अपने जीवन में देख सकता था। मूलतः कनफ्यूशियस का दर्शन कर्मवाद का दर्शन है। वहाँ कवि कल्पना की ऊँची उड़ाने नहीं हैं। उनकी शिक्षा जीवन के कठोर व्यावहारिक पक्ष पर आधारित थी, शुष्क और नीरस शब्द-जालों पर नहीं। कनफ्यूशियस एक कर्म योगी थे। जहाँ भी, जिस किसी पद में वे रहे, वहाँ उन्होंने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

और इसका रहस्य था उनका अटूट अध्यवसाय। जो असफलता हाथ लगने से निराश-से हो जाते थे, उनके प्रति कनफ्यूशियस का कहना था—"यदि कोई एक बार प्रयास करके सफलता प्राप्त करता है, तो तुम सौ बार प्रयास करो। यदि कोई व्यक्ति दस बार प्रयास करके सफलता प्राप्त करता है, तो तुम एक हजार बार प्रयास करो। कोई व्यक्ति इसी प्रकार आगे बढ़े, तो स्थूल बुद्धि का होने पर भी वह बुद्धिमान् हो जाएगा, दुर्बल होने पर भी शक्तिशाली हो जाएगा।"

कनफ्यूशियस का व्यक्तित्व जहाँ एक ओर ज्ञान का जीवित प्रतीक था, वहीं दूसरी ओर उनमें कुछ विचित्र गुण भी थे। संगीतके वे अनन्य प्रेमी थे। स्वयं उन्होंने संगीत पर एक ग्रन्थ संपादित किया था। वे अच्छे गायक थे। अच्छे वादक भी थे। उनकी मान्यता थी कि शिक्षा का प्रारम्भ कविता से और अन्त संगीत से होना चाहिये। देखने में वे बड़े सुन्दर थे। उनकी ऊँचाई (पुरानी नाप के अनुसार) ६ फुट ६ इंच थी। उनकी ऊँचाई सबके लिये आश्चर्य की बात थी। कई लोग उन्हें 'लंबा आदमी' के नाम से भी संबोधन करते। जब तक भोजन ठीक से बना हुआ न होता, वे न करते। शराब भी वे पीते थे, मांस उन्हें प्रिय था। कपड़ों के विषय में वे बड़े विचित्र थे। प्रायः मिलते-जुलते रंगों का कोट और ओढ़नी उपयोग में लाते। उनके कपड़े की दाहिने हाथ की बाँह, बाँये हाथ की बाँह से छोटी होती, जिससे काम करने में सुविधा हो सके। उनका बिस्तर उनकी लम्बाई से डेढ़ गुना होता, जिससे पैर बाहर न रहें और

ठण्ड से बच सकें। उनकी इन विलक्षण आदतों के कारण घबराकर उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर चली गई थी।

किन्तु इन विचित्रताओं के बाद भी वे इतने बड़े ज्ञानी थे कि उनका नाम और यश शीघ्रता से फैलता जा रहा था। शिष्यों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। उनके ही जीवन काल में शिष्यों की संख्या तीन हजार तक पहुँच गई थी। इसमें साधारण छात्र से लेकर बड़े-बड़े विद्वान् तक सम्मिलित थे। शिक्षक, दार्शनिक और संगीतज्ञ के अतिरिक्त वे एक योग्य शासक भी थे। विभिन्न राजाओं के पास वे विभिन्न मंत्री-पदों पर रहे। जिस किसी विभाग में वे रहे, वहाँ की व्यवस्था में अद्भुत सफलता मिली। राजा और राज्य के विषय में उन्होंने कई महत्त्वपूण बातें कही हैं। छप्पन वर्ष की अवस्था में वे लू के प्रधान मंत्री बने। उनके मंत्री-काल में देश की व्यवस्था में कई सफलताएँ मिलीं। तीन महीने के अन्दर ही कसाइयों ने मांसों का मिश्रण बन्द कर दिया। पुरुष और स्त्री अलग-अलग मार्ग में चलने लगे। सड़क पर पड़ी चीजें भी नहीं चुराई जाती थीं। विदेश. लोग भी, लू प्रदेश में आने पर, उसे अपना ही प्रदेश-जैसा पाते थे। किन्तु उनकी बढ़ती हुई प्रतिभा विरोधियों को अच्छी न लगी। षड़यन्त्रकारियों के कुचक्र से इस योग्य मंत्री ने लू प्रदेश को त्याग दिया।

कनफ्यूशियस अत्यन्त दृढ़ चरित्र के व्यक्ति थे। उनके जीवन का सारा आदर्श वैयक्तिक चरित्र-निर्माण पर आधारित था। राजा हो या प्रजा, वे प्रत्येक को चरित्र-

निर्माण पर जोर देते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि चरित्र के अभाव में जीवन व्यर्थ है। एक बार उन्होंने कहा था—"जिस प्रकार धन से घर को शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार चरित्र से शरीर की शोभा बढ़ती है।" उनका चरित्र कितना दृढ़ था, यह इस घटना से स्पष्ट हो जाएगा:—

लू प्रदेश से मन्त्री-पद त्याग कर वे वेई प्रदेश की ओर बढ़े। वेई की रानी नानशिया ने उनका आगमन जानकर उन्हें यह निमंत्रण दिया—'विदेशों से जो भी भद्र पुरुष हमारे राज्य में आकर हमें सम्मानित करते हैं तथा हमारे राजा से मित्रता करना चाहते हैं, वे मुझसे अवश्य मिलते हैं। क्या मैं आपके साथ का आनन्द उठा सकती हूँ?' कनक्यूशियस को स्त्रियों से मिलना बिल्कुल पसंद न था। लू प्रदेश त्यागते समय उन्होंने जो गीत गाया था उसका अर्थ इस प्रकार है—'नारी की जिह्वा से सावधान रहो। कभी भी तुम उसके द्वारा डसे जा सकते हो। नारी की भेंट से भी तुम सावधान रहो, क्योंकि एक न एक दिन तुम्हें उसका फल भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये मैं यहाँ से भागा जाता हूँ।' उनके मंत्रीपद-त्याग का मूल कारण था ड्यूक का भोग-विलास की ओर अधिक आकृष्ट होकर, अपने उत्तर दायित्वों की उपेक्षा करना। इस बार भी कनफ्यूशियस ने रानी से मिलना न चाहा, किन्तु परिस्थितिवश उन्हें मिलना पड़ा। रानी ने मलमल के पर्दे के भीतर से कनफ्यूशियस का बड़े प्रेम से अभिवादन किया। रानी की भावभंगिमा अच्छी न थी कनफ्यूशियस के शिष्य त्सेलू को यह बात अच्छी न

लगी, पर कनफ्यूशियस ने सौगन्ध खाकर कहा, 'यदि मैंने कुछ भी बुरा किया हो, तो ईश्वर मुझे दण्ड दें। 'दूसरी बार जब कनफ्यूशियस राजा और रानी के साथ नगर में से जा रहे थे, तो उन्हें यह देखकर बड़ा बुरा लगा कि लोग विद्वानों की अपेक्षा सुन्दर, स्त्रियों की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। उन्होंने तुरन्त प्रदेश भी त्याग दिया क्योंकि रानो नानशिया वेई अच्छे चरित्र की न थी।

इस प्रकार जहाँ एक ओर कनफ्यूशियस की ख्याति दिनों-दिन बढ़ती गई, दूसरी ओर उनके विरोधी भी बढ़ते गये। चूँकि वे सत्यनिष्ठ और सिद्धान्तों में दृढ़ और व्यववहार में ईमानदार थे, क्रमशः उनकी लोकप्रियता कम भी होने लगी। उच्चाधिकारियों, सामन्तों और मंत्रियों को यह बात अच्छी न लगी कि कोई ऐसा सुधारक आकर उनके सुख और सुविधापूर्ण जीवन में बाधा दे। यही कारण था कि उनके अन्तिम दिन दुखःपूर्ण रहे। उनके सिद्धान्त की कठिनाई को देखकर एक शिष्य ने कहा, "गुरुदेव, जनसाधारण के लिये आपकी शिक्षा बड़ी कठिन है। क्यों नहीं आप थोड़े निचले स्तर पर आ जाते ?"

गुरु का उत्तर इस प्रकार था —"एक अच्छा कारीगर पूरी कुशलता से कार्य कर सकता है, किन्तु अपने ग्राहकों को प्रसन्न करने की गारन्टी नहीं दे सकता। एक अच्छा किसान बीज तो बो सकता है पर फसल की गारंटी नहीं दे सकता। तुम अपने को तो उन्नत नहीं कराना चाहते पर लोगों द्वारा प्रशंसित होना चाहते हो! मुझे भय है, तुम

अपने उच्च आदर्शों का पालन नहीं कर रहे हो। इस बात की चिन्ता मत करो कि लोग तुम्हारी प्रतिभा को पहचानते नहीं, बल्कि इस बात की चिन्ता करो कि तुमने योग्यता प्राप्त कर ली है या नहीं।"

कनफ्यूशियस की सारी शिक्षा का निचोड़ है मनुष्य-निर्माण। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का जब तक सुधार नहीं हो जाता, तब तक कहीं न कहीं खोट अवश्य रहेगी, ऐसा विश्वास था उस दार्शनिक का। उन्होंने कभी भी अपने शिष्यों को आधिभौतिक या आत्मिक विषयों पर उपदेश नहीं दिये। उनका पूर्ण विश्वास था नैतिक सुधार में। जिस प्रकार नित्शे ने एक महामानव (super man) की कल्पना की थी, उसी प्रकार कनफ्यूशियस ने 'नैतिक मनुष्य' की कल्पना की थी। पर उनका नैतिक मनुष्य नित्शे के महामानव से सर्वथा भिन्न था। कोई भी व्यक्ति, कनफ्यूशियस की दृष्टि में, महान् से महान् हो सकता था। कनफ्यूशियस का 'महान् व्यक्ति' कैसा था, उसका चित्रण इन पंक्तियों में हो जाता है:—

"जब तक उच्च चारित्र्य की उपलब्धि न हो तब तक नैतिकता का पालन नहीं हो सकता।.....चाहे कोई व्यक्ति किसी बड़े पद पर भी क्यों न हो, पर जब तक उसमें दृढ़ चारित्र्य और नैतिक बल नहीं है, वह अपने पद के अनुरूप कार्य का निष्पादन नहीं कर पाता। सदाचारी व्यक्ति का जीवन सादा होते हुए भी अनाकर्षक नहीं होता, सरल होकर भी दया से पूर्ण तथा सहज एवं व्यवस्थित होता है। वह जानता है कि महान् कार्यों की सफलता छोटे से कार्यों

को भी सफलता पूर्वक कर सकने में निहित होती है। वह जानता है कि बड़े-बड़े परिणामों का भी छोटा सा कारण हो सकता है। इस प्रकार वह आदर्शों और सदाचार के जीवन में प्रवेश करने योग्य हो जाता है। इसीलिये सदाचारी व्यक्ति बिना कोई प्रलोभन दिये भी लोगों में सुधार ला सकता है, बिना दण्ड-भय के भी लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।"

कनफ्यूशियस का सदाचारी व्यक्ति या नैतिक मनुष्य (Moral-Man) कोई देवपुरुष कदापि नहीं है,क्योंकि अपने धर्म के प्रवर्तक के रूप में पूजा जानेवाला यह दार्शनिक स्वयं एक साधारण व्यक्ति था उसने कभी भी अपने आपको एक महान् व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सदाचार और विद्याध्ययन के लिये कठोर साधना की थी। वे कहते हैं—"मैं एक दरिद्र व्यक्ति का पुत्र था। इसलिये ऐसे बहुत से कार्य कर सकता हूँ, जो जनसाधारण से सम्बन्धित होते हैं। क्या महान् व्यक्तियों को भी इतना सब करना पड़ता है ? मैंने पन्द्रह वर्ष की आयु से गम्भीर अध्ययन शुरू कर दिया, तीस वर्ष की आयु तक अपने चरित्र-निर्माण को पूरा कर लिया। चालीसवें वर्ष में मुझे कोई चिन्ता न थी। पचासवें वर्ष में यह जान गया कि ईश्वर (Heaven's) की इच्छा क्या है। साठवें वर्ष की आयु में मुझे किसी भी बात से विचलित होना नहीं पड़ा। अब सत्तरवें वर्ष की आयु में, मैं सदाचार के नियमों का पालन करता हुआ अत्यन्त स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर सकता हूँ।"

इन पंक्तियों का असल अर्थ यही है कि उनमें जो भी मानवीय कमजोरियाँ और कमियाँ थीं, धीरे-धीरे उन्होंने दूर किया। धीरे-धीरे सफलताएँ प्राप्त कीं। एक दिन में या एक वर्ष में कुछ नहीं हुआ। पर आज का मनुष्य तो इतना अधीर है कि वह दूसरे ही दिन महान् बन जाना चाहता है। चार किताबें पढ़ कर पंडित बन जाना चाहता है। परिणाम स्वरूप केवल निराशा ही हाथ लाती है। कनफ्यूशियस की अध्ययनशीलता विचित्र थी। जब तक कोई बात उनकी समझ में न आ जाती, वे रात-रात भर न सोते। सारा दिन बिना भोजन के बिता देते। जब उनका काम पूरा हो जाता, तभी उसे छोड़ते। उनका शिष्य बनना भी मुश्किल था। हर किसी को वे शिष्य न बनाते। शिष्य बनाने के पूर्व वे अच्छी तरह परख लेते कि उस व्यक्ति की जिज्ञासा कैसी है, दृढ़ता और लगन कैसी है? जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाता कि उस व्यक्ति में स्वयं अध्ययन करने की क्षमता और उत्सुकता है, वह उसे कदापि शिक्षा न देते। वे कहते हैं—"मैं किसी विषय का चतुर्थांश ही समझाकर छोड़ देता हूँ। मैं यह देखना चाहता हूँ कि शेष भाग वह स्वयं समझ कर आता है या नहीं। पढ़ाये गये पिछले भाग उसे अच्छी तरह याद हो गये या नहीं? उसने पढ़े हुए भाग पर ठीक से विचार किया या नहीं? जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, वह मेरी शिक्षा का अधिकारी नहीं हो सकता।"

इस प्रकार विभिन्न विषयों पर उन्होंने अपने विशद

विचार व्यक्त किये, जो आज भी चीन के लिये, हमारे देश के गाँधी या किसी भी दूसरे महापुरुष के वचन के समान ही,बहुमूल्य हैं। किन्तु यह एक सत्य है कि किसी भी व्यक्ति को अपने ही जीवनकाल में, अपने देश में उतनी प्रतिष्ठा नहीं मिलती, जितनी कि मिलनी चाहिये। कनफ्यूशियस का भाग्य भी मन्द होने लगा। उनके सुधारपूर्ण उपदेश समाज के विकृत और दुःश्चरित्र लोगों को अच्छे न लगे। धीरे-धीरे वे महान् पदों से उतरते-उतरते एक सामान्य व्यक्ति की कोटि में आ गये और अन्तिम दिनों में उनका जीवन एक गरीब व्यक्ति का जीवन था। ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्जे ने कनफ्यूशियस को इस बात की चेतावनी बहुत पहले दे दी थी। उन्होंने कहा था:—

"मैंने सुना है कि धनी लोग दूसरों को धन का उपहार देते हैं और दयालु लोग सलाह का। मैं भी तुम्हें एक सलाह देना चाहता हूँ। जो व्यक्ति चिन्तनशील और प्रतिभावान् होता हैं वह दूसरों की आलोचना करने के कारण प्रायः विपत्तियों में पड़ जाता है। जो व्यक्ति विद्वान् और बहुत पढ़ा लिखा तथा तर्क करने में चतुर होता है, वह भी दूसरों की भूल को प्रकट करने के कारण, अपने जीवन को प्रायः खतरे में डाल लेता है। ऊपने को सदैव मंत्री या राजदरबार में न समझना।"

यह उस समय की घटना है, जब लाओत्जे से भेंट करके कनफ्यूशियस विदा ले रहे थे। उन दिनों वे उच्च पदों में थे। पर लाओत्जे ने स्पष्ट कह दिया कि व्यक्ति सदैव

उच्च पदों या राज्याश्रय द्वारा सुरक्षित नहीं रहता। अन्तिम वाक्य का यही अर्थ है।

अन्त में यही हुआ। चारों ओर से प्रसिद्धि और मान सम्मान प्राप्त यह महान् दार्शनिक बहत्तर वर्ष की आयु में एक विपन्न व्यक्ति जैसा चल बसा। उनके अन्तिम शब्द थे—"लोग मुझे मृत्यु के बाद समझेंगे।"

हुआ भी यही। मृत्यु का समाचार तेजी से चारों तरफ फैल गया। लोग तीन वर्ष तक उनका शोक मनाते रहे। वह स्थान उनके नाम पर ही एक गाँव बन गया। मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने अपने गुरु के उपदेशों का चारों ओर प्रसार-प्रचार किया। और देखते ही देखते एक गरीब और विपन्नकी अवस्था में मरनेवाला यह दार्शनिक, लोगों का ईश्वर बन गया। उसके नाम से मन्दिर बने। उसकी मूर्तियाँ बनीं उसकी पूजा हुई। उसके नाम पशुबलि भी दी जाने लगी। जबकि उसने स्पष्ट कह दिया था कि मैं अवतार नहीं हूँ, ईश्वर नहीं हूँ, देवदूत भी नहीं हूँ।

"मनुष्य ही मनुष्य का मापदण्ड है" यही उनकी मूल शिक्षा थी। यही कारण है कि बौद्ध, इस्लाम, ईसाई और ताओ धर्मों के बावजूद भी कनफ्यूशियस की शिक्षा का अधिक से अधिक प्रचार हुआ। मात्र अपने पुरुषार्थ के बल पर वह करोड़ों लोगों का ईश्वर बन गया। पुरुषार्थ ही उसका मूल मंत्र था।

—०—

कनफ्यूशियस और बच्चे

एक बार जब कनफ्यूशियस पूर्व की ओर यात्रा कर रहे थे, उन्होंने दो बच्चों को आपस में विवाद करते देखा। उन्होंने उन बच्चों से विवाद का कारण पूछा।

एक बच्चे ने कहा, "मैं कहता हूँ कि प्रातःकाल सूर्य हमारे नजदीक होता है और दोपहर को दूर, और यह कहता है कि सूर्य दोपहर को हमारे पास और सबेरे हमसे दूर होता है।" उस बच्चे ने आगे और कहना शुरू किया, "जब सूर्य उदय होने लगता है तब वह किसी बड़े पहिये या ढक्कन के समान प्रतीत होता है, लेकिन दोपहर को वह छोटीसी थाली के समान दिखाई पड़ता है। इसलिये जब वह बड़ा दिखाई देता है तो अवश्य ही हमारे पास, और छोटा दिखाई देने पर हमसे दूर होता है।"

दूसरे बच्चे ने उत्तर दिया, "जब सूर्य उगता है, उस समय हवा ठण्डी रहती है, और दोपहर को गरम शोरबे के समान जलानेवाली। इसलिये जब वह बहुत गरम रहता है तब हमारे पास, और ठण्डा रहने पर हमसे दूर होना चाहिये।"

कनफ्यूशियस को कुछ न सूझा कि कौन सही था और कौन गलत। बच्चों ने तब हँसी उड़ाते हुए कहा, "न जाने किसने कह दिया कि तुम ज्ञान के पुतले हो!"

—❀❀—

ईश्वर का अस्तित्व

(रायसाहब हीरालाल वर्मा)

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अनादि काल से अनेक विचार प्रकट किये जा चुके हैं, परन्तु आज तक यह निर्णय नहीं हो सका कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। बल्कि कुछ लोगों को तो उसकी सत्ता में भी संदेह है। नास्तिकों का कहना है कि ईश्वर का सिद्ध होना किसी भी प्रमाण से संभव नहीं है और यदि मान लिया जाय कि वह है भी, तो वह बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। कहा जाता है कि सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है, और बौद्ध-धर्म में भी ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार विज्ञान-शास्त्र का कहना है कि भौतिक प्रकृति परमाणुओं (एटम्स) से बनी हुई है जो नित्य हैं; इसलिये ईश्वर को उनका निमित्तकारण मान लेने की आवश्यकता नहीं। लेकिन विज्ञान की नवीन खोजों ने ही प्रकृतिवाद को बहुत धक्का पहुँचाया है। कुछ समय पहिले 'परमाणु' अविभाज्य जड़ प्रकृति का अंतिम रूप माना जाता था। परन्तु अब सिद्ध हुआ है कि परमाणु केवल विद्युत्-रूप है, अर्थात् परमाणु के बीच में एक 'प्रोटान' केन्द्र होता है जिसके चारों ओर कुछ विद्युत् कण 'एलक्ट्रान' चक्कर लगाते रहते हैं। तात्पर्य यह कि अब वैज्ञानिकों के विचार में प्रकृति जड़ पदार्थ (मैटर) की बनी हुई न होकर केवल विद्युत्शक्ति

की ही है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि इस विद्युत्शक्ति के कण स्थूल पदार्थ नहीं हैं वरन् किसी शक्ति की स्पन्दन-क्रियाएँ हैं। यह स्पन्दन उसी तरह होता है जैसे सौर-मण्डल में पृथ्वी और चन्द्रमा सूर्य की परिक्रमा करते हैं। वे भी नियम-बद्ध जान पड़ते हैं, जिससे सिद्ध हो जाता है कि जो शक्ति इन विद्युत-कणों में प्रेरणा कर रही है, वह कोई चेतन और विचारवान् मूल तत्त्व होना चाहिये, क्योंकि जड़ प्रकृति से चेतना का उदय हो नहीं सकता। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ परमाणु-वादियों का विचार है कि किसी अवस्था में भिन्न-भिन्न परमाणुओं के संघात से संयुक्त पदार्थ में नये गुण पैदा हो जाते हैं और चेतना शक्ति का भी इसी प्रकार पैदा हो जाना सम्भव है; परन्तु इस सिद्धान्त के स्वीकार करने में त्रुटि इस बात की है कि परमाणुओं में ऐसा विशेष संघात कौन करा देता है? और फिर यदि वस्तुओं के गुण-धर्म उनके अव्यक्त रूप में मौजूद न हों, तो उनके संघटन से इनका विकास अथवा परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रत्येक अवस्था किसी न किसी कार्य-कारण संबन्ध से पैदा होती है और कारण का कार्य कोई कर्म होता है। चेतन कर्म बिना इच्छा के नहीं होता, इसलिये यह स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व उसके निर्माण का विचार किसी मूल तत्त्व में अवश्य हुआ होगा। विज्ञानवादी भी अब नहीं कहते कि विश्व के मूल में कोई संकल्प नहीं था। यदि वे प्रयोगशाला के प्रयोगों से अथवा तर्क से इस मूल तत्त्व का यथार्थ पता नहीं लगा सकते तो इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि जगत् के समान विल-

क्षण कार्य बिना किसी कर्ता के विचार से उत्पन्न हो जाय। हर्ष की बात है कि नवीन-विज्ञानवादियों का झुकाव आस्तिकता की ओर हो रहा है। मिस्टर एक्रेसी मॉरीसन ने, जो एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं, हाल में एक लेख पत्रों में छपवाया है, जिसमें उन्होंने अनेक वैज्ञानिक युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है कि प्रभु है और ध्रुव सत्य है। उनके लेख का अनुवाद इस प्रकार है:—

वैज्ञानिक काल का उदय तो अभी ही शुरू हुआ है और जैसे-जैसे उसकी किरणों का प्रकाश बढ़ता जाता है, ज्ञात होता है कि यह सृष्टि किसी कुशल सृजनहार, की रची हुई है। डार्विन-काल के पश्चात् नब्बे वर्ष में अनेक अद्भुत नई-नई खोजें हुई हैं, जिससे विज्ञान में श्रद्धा के साथ-साथ हमें पदार्थ-ज्ञान में भी प्रभु का बोध निकट होता जाता है। परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास होने के लिए मैं निम्न सात प्रमाण गिना सकता हूँ:—

१. गणित-विद्या के अटल नियमों से हम इस बात को सिद्ध कर सकते हैं कि इस जगत् की मुक्ति और संपादन किसी महान् यंत्रकार की कुशल बुद्धि से हुए होंगे, किसी आकस्मिक संयोग से नहीं। "अकस्मात्" का नियम इस प्रकार है:—

मान लो कि तुमने दस पैसे, जिन पर एक से दस तक के अंक क्रमशः लिख लिये गये हों, अपनी जेब में डाल लिए हैं और जेब को हिलाकर तुम चाहते हो कि इन पैसों पर के अंकों को बिना देखे, वे पैसे, एक के बाद एक, उसी क्रम से

निकलें जैसे कि वे डाले गये थे, तो सम्भव है कि दस अरब बार प्रयत्न करने में एक बार सफलता हो। क्योंकि अंकशास्त्र के नियम के अनुसार, जिस पैसे पर '१' अंक पड़ा हुआ है, उसके प्रथम निकलने की सम्भावना दस बार में एक बार है। '१' अंक वाले पैसे के बाद '२' अंक वाले पैसे के निकलने की सम्भावना सौ बार में एक बार होगी। '१', '२', '३' अंक वाले पैसों की उसी क्रम से निकलने की सम्भावना हजार में एक बार होगी। इसी तरह एक से लेकर दस अंकोंवाले पैसों का उसी पंक्ति में निकलना दस अरब प्रयत्नों में कदाचित् एक बार सम्भव हो सकता है।

अब हम देखते हैं कि इस पृथ्वी पर जीव के अस्तित्व के लिए इतनी कठिन समस्याओं की पूर्ति की आवश्यकता है कि उनका एकत्रित होना आकस्मिक नहीं हो सकता। देखिये:—

[क] पृथ्वी अपनी अक्षरेखा पर एक हजार मील फी घंटे के हिसाब से भ्रमण करती है। यदि वह सौ मील फी घंटे के हिसाब से घूमती तो अपना दिन-मान और रात्रि-मान दस गुना लम्बा हो गया होता, जिसका परिणाम यह होता कि हर दिन सूर्य की १२० घंटे लम्बी गर्मी में सब वनस्पतियाँ जल जातीं और उतनी ही लम्बी रात्रि की ठंडक में नए अंकुर ठिठुर जाते।

[ख] सूर्य जो सब प्राणियों के जीवन का स्रोत है, अपने धरातल से बारह हजार डिग्री की गर्मी फेंकता है; परन्तु उसके और पृथ्वी के बीच में उचित अन्तर होने के कारण पृथ्वी को इस सनातन अग्नि-कुंड से जितनी उष्णता की

जरूरत है उतनी ही, न कम न अधिक, मिलती रहती है। यदि सूर्य विद्यमान गर्मी से न्यूनाधिक उष्णता छोड़ता तो हम लोग या तो अकड़ जाते अथवा भुन जाते।

[ग] पृथ्वी के २३½ डिग्री के झुकाव से घूमने के कारण मौसम बदलते रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो समुद्रों से भाप उड़कर उत्तर और दक्षिण ही की ओर जाती और जम-कर बरफ के महाद्वीप बना देती।

[घ] यदि चन्द्रमा पृथ्वी से मौजूदा दूरी पर न होकर केवल ५०,००० मील की दूरी पर होता, तो समुद्रों में दो बार ज्वार-भाटे इतने ऊँचे उठते कि सारी पृथ्वी पानी से ढक जाती और पहाड़ भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाते।

[ङ] यदि पृथ्वी की परत दस फुट और मोटी होती तो प्राणप्रद (आक्सीजन) वायु ही नहीं होती, जिसके कारण सब जीवधारी मर जाते।

[च] समुद्रों की आधुनिक गहराई यदि कुछ और अधिक होती तो वे कारबनडाइ आक्साइड और आक्सीजन वायुओं को सोख लेते और पृथ्वी पर वनस्पतियों का उगना असम्भव हो जाता।

[छ] यदि अपना वायुमण्डल कुछ और महीन होता तो जो उल्का-समूह (टूटे हुए तारे) हवा की रगड़ से अभी भस्म हो जाते हैं, वे पृथ्वी पर गिरकर हर जगह आग लगा देते।

ऊपर दिये हुए उदाहरणों के अतिरिक्त और इसी प्रकार की कई स्वाभाविक अवस्थाएँ हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इस

जगत् में प्राणियों की सत्ता "अकस्मात्" के सिद्धान्त के अनुसार नहीं है, वरन् प्रभु की विशाल योजना के कारण है।

२. जीव को अपने कर्तव्य पूरे करने के लिए जो साधन प्राप्त हैं, वे किसी सर्व व्यापक ज्ञान-शक्ति के प्रदर्शक हैं।

जीव क्या वस्तु है? उसका शोध अभी तक कोई मनुष्य नहीं लगा सका है। न तो उसमें कोई वजन है और न विस्तार, परन्तु उसमें शक्ति अवश्य है। देखने में आता है कि किसी बढ़ते हुए पौधे की जड़ से चट्टानों में दरार पड़ जाती है। जीव ने पानी, धरती और हवा पर विजय पा ली है और तत्वों पर भी अधिकार जमा लिया है। यहाँ तक कि उनके कणों को तोड़कर फिर से नये रूप में इकट्ठा किया जा सकता है। भाव यह है कि जीव एक शिल्पकार की हैसियत से सब प्राणियों को रूप देता है और चित्रकार की हैसियत से सब वृक्षों की पत्तियों का नक्शा बनाकर उनके फूलों में रंग चढ़ाता है। जीव संगीतज्ञ भी है, क्योंकि उसी ने चिड़ियों को प्यार-भरे हुए गीत सिखलाये और कीड़े-मकोड़ों में एक दूसरों को अपनी विभिन्न शब्दों की ध्वनि से बोध कराया। जीव उत्कृष्ट रसायनी भी है, क्योंकि फलों और मसालों में स्वाद उसी का बनाया हुआ है; गुलाबों में उसी की प्रदान की हुई सुगन्धि है; वही पानी और कारबोनिक एसिड को शक्कर और भोजन में परिवर्तित कर देता है और उनमें से आक्सीजन को हटाकर अलग कर देता है जिससे प्राणियों को प्राणवायु मिलती रहे।

देखिये यह कितनी विचित्र लीला है कि प्रोटो-प्लाज़्म

(जीवन का मूल पदार्थ), जो केवल अदृश्य बूँद-सा निर्मल लोआबदार होता है, उसमें भी गति होती है और सूर्य से तेज खींचने की शक्ति रखता है। इस अकेले कोश (सेल) के अन्दर जीव का बीज रहता है जिससे हरएक प्राणी, क्या छोटा क्या बड़ा, चेतन शक्ति पाता है। इस कोश में सब वनस्पतियों, पशुओं और मनुष्यों से कहीं अधिक बल रहता है, क्योंकि उन सब के प्राणों का दाता वही तो है। प्रकृति में जीव उत्पन्न करने की शक्ति नहीं-जड़ चट्टानों और खारे समुद्रों से क्या यह योजना हो सकती है? तो फिर यह चेतन शक्ति उस अदृश्य कोश में किसने भर दी?

३. प्राणियों में जो विवेकशक्ति है वह किसी उत्तम सृजनहार के कार्य का अकाट्य प्रमाण है, नहीं तो छोटे-छोटे असहाय जंतुओं में सहज ज्ञान कहाँ से आता?

[क] देखिये, सालमन मछली जिसकी पैदायश नदियों में होती है, समुद्र में जाकर और वहाँ वर्षों तक रह कर फिर उसी नदी की उसी सहायक धारा से, जिससे उसने समुद्र में प्रवेश किया था, वापिस आकर अपने जन्म स्थान को लौट आती है। यदि इस सालमन मछली को पकड़कर उसी नदी की किसी दूसरी धारा में डाल दें तो वह समुद्र में जाकर फिर अपनी पहिली धारा द्वारा अपने जन्म-स्थान को लौट आयेगी। इस प्रकार की सुनिश्चितता उस मछली को 'प्रभु' के सिवाय कौन दे सकता है?

[ख] ईल मछली के रहस्य का समझना तो और भी कठिन है। देखिये, ये मछलियाँ जो यूरोप की प्रत्येक नदी

और तालाब में रहती हैं, बड़ी होने पर समुद्रों में जाकर हजारों मील तैरकर बरमूडास के अथाह कुण्डों में पहुँचती हैं, जहाँ वे अंडे देकर मर जाती हैं। इनसे जो बच्चे पैदा होते हैं, उन्हें अपने आस-पास के जल के अतिरिक्त दूसरा ज्ञान न होते हुए भी, वे रोप की उन्हीं नदियों और तालाबों में पहुँच जाते हैं, जहाँ से उनकी माताओं ने बरमूडास की यात्रा की थी। और फिर खूबी यह है कि यूरोप की ईल मछली के बच्चे अमेरिका की ईल मछलियों के साथ बरमूडास में तो रहते हैं, परन्तु धोखे से भी यह नहीं होता कि यूरोपीय ईल अमेरिका की नदियों में चली जाये अथवा अमेरिकी ईल यूरोप जा पहुँचे। यह भी देखा गया है कि चूँकि अमेरिका की नदियों की यात्रा बरमूडास से यूरोप के मुकाबले में अधिक लम्बी है, इसीलिए अमेरिकी ईलों के बच्चे बरमूडास में एक साल और ज्यादा रहकर, प्रौढ़ होकर निकलते हैं ताकि वे अधिक लम्बी यात्रा की थकावट को सहन कर सकें। इन ईलों के बच्चों को उनके पूर्वजों के निवास-स्थान का पता कौन बताता है? और अमेरिकी ईलों को उनकी यात्रा के विस्तार का पता ईश्वर के सिवाय और कौन दे सकता है?

[ग] बर्र, अंडे देने के पूर्व एक टिड्डे को पकड़कर उसे बेहोश करके जमीन में एक गढ्ढे में ऐसी जगह गाड़ देती है, जहाँ दूसरे जन्तु उसे न खा सकें। फिर अंडों को सेकर उड़ जाती है और मर जाती है। उसके बच्चे टिड्डे के मांस को खाकर पनपते हैं। बच्चे मुर्दा मांस यदि खायें तो उसके

जहर से मर जायें। इसलिए बर्र टिड्डे को सिर्फ मूर्छित रखती है, मारती नहीं। इस प्रकार की अनोखी युक्ति बर्र में सिखाने से पैदा नहीं हो सकती, उसमें यह सहज ज्ञान ईश्वर ने ही प्रदान किया होगा।

४. मनुष्य में तो साधारण ज्ञान के अतिरिक्त तर्क-शक्ति भी है दूसरे प्राणियों में तो दस तक गिनती गिनने की भी योग्यता नहीं। यदि सहज ज्ञान की तुलना बाँसुरी के एक स्वर से की जाये तो मनुष्य की बुद्धि की समता संगीत के सारे बाजों की मधुर ध्वनि से की जा सकती है। इस मानुषिक बुद्धि की विशालता पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।; इस बुद्धि के कारण हम अपने अस्तित्व को पहचान सकते हैं और यह केवल इस कारण कि उसे समष्टि-बुद्धि का अंश होना चाहिये।

५. डार्विन के काल में 'जेनेस' नाम के 'वंशतत्व' का पता नहीं था जिसकी खोज अब हो चुकी है। ये 'जेनेस' इतने सूक्ष्म हैं कि उनको खुर्दबीन से भी नहीं देख सकते और यदि दुनियाँ के सारे जीवित मनुष्यों के जेनेसों को इकट्ठा किया जाय तो वे दर्जियों के एक अंगुश्ताना के अंदर समा जायेंगे। लेकिन यही जेनेस और उनके साथी 'क्रोमोसोम' प्रत्येक जीवित सेल के भीतर रहते हैं और इन्हीं के कारण, क्या वनस्पतियों में, क्या पशुओं और क्या मनुष्यों में, भिन्न-भिन्न विशेषताएँ और गुण उत्पन्न होते हैं। जरा सोचिये तो कि ये अदृश्य जेनेस असंख्य प्राणियों के पूर्वजों के गुण-धर्मों की रक्षा करके वंश-परम्परा के सिद्धांत को

किस प्रकार कायम रखते हैं ? वे ही विकासवाद की जड़ हैं। उनके कार्य से निपुण चतुराई झलकती है और यह चतुराई कहाँ से आई ? उसकी कल्पना सिवाय इसके दूसरी नहीं हो सकती कि वह किसी अनन्त गुणी की है।

६. सृष्टि में जो अल्पव्यय-प्रबन्ध दृष्टिगोचर होता है वह हमें यह समझने के लिए विवश करता है कि किसी अपरिमित बुद्धि ने ही अग्रदृष्टि से बड़ी चतुराई के साथ जगत्-गृहस्थी की सामग्री को बनाया होगा।

कई वर्ष हुए, अस्ट्रेलिया में किसी ने अपने खेत में नाग-फनी की बाड़ लगाई थी। तब उस देश में कोई ऐसे कीड़े मौजूद न थे जो इस पौधे को खाते। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में उसकी इस प्रकार बाढ़ हुई कि उसका विस्तार (रकबा) इग्लैंड के क्षेत्रफल के बराबर हो गया। बहुत खोज के पश्चात् ऐसे कीड़े उस नाग-फनी पर छोड़े गये, जो उसी को खाकर जीवित रहते हैं और जिनके भक्षण के लिए आस्ट्रेलिया में दूसरे कीड़े न थे। इस प्रकार थोड़े काल में न केवल नाग-फनी की बाढ़ घट गई, वरन् उन कीड़ों की संख्या भी आप से आप इतनी कम हो गई कि नाग-फनी खेतों की मेड़ों के बाहर न जा सकी।

इस प्रकार के रुकाव और संतुलन का प्रबन्ध सर्वव्यापी है। देखिये, बहुतायत से पैदा होने वाले कीड़े दुनिया पर क्यों नहीं छा जाते ? कारण यह है कि मनुष्यों की तरह उनके फेफड़े नहीं होते, वे नलियों द्वारा श्वास लेते हैं। लेकिन जब कीड़े बढ़ते हैं तो उनके भीतर की श्वास-नलियाँ उनके शरीरों

के प्रमाण से नहीं बढ़ती, इसी कारण कीड़े डील-डौल में अधिक नहीं बढ़ने पाते, क्योंकि उनकी बाढ़ में प्रभु ने रुकावट डाल रखी है। अगर ऐसा न किया जाता तो मनुष्यों का दुनिया में रहना असम्भव हो जाता। कल्पना कीजिये कि मच्छर सिंह के बराबर होते तो मनुष्य की क्या गति होती?

७. चूँकि यह सत्य है कि मनुष्य प्रभु की कल्पना कर सकता है, यह भी प्रभु की सत्ता का अपूर्व-प्रमाण है।

प्रभु की कल्पना मन की उस ईश्वरीय शक्ति के द्वारा होती है, जो जगत् के किसी प्राणी में नहीं होती। इसे कल्पना-शक्ति कहते हैं। उसके द्वारा केवल मनुष्य ही अदृश्य पदार्थों को प्रमाणित करता है। इस शक्ति के कारण जो दृश्य सामने आते हैं उनकी सीमा नहीं। सच तो यह है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की कल्पना-शक्ति पूर्ण होकर आत्मिक यथार्थता की श्रेणी तक पहुँचती है, त्यों-त्यों मनुष्य को जगत् के रूप और उद्देश्य में उस बड़े तथ्य का बोध होता है कि प्रभु सब जगह है और जो कुछ है अथवा जहाँ है, सब प्रभु ही प्रभु है। और सबसे निकट तो वह अपने हृदय के भीतर है। सारांश यह है कि वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से बाइबिल के 'सामिस्ट' अध्याय के इस कथन की पुष्टि होती है कि "आकाश परमेश्वर की कीर्ति का डंका बजाता है और ग्रह-मंडल उसके शिल्प कर्म का।"

विज्ञान की कुछ नई खोजों ने पुरानी आध्यात्मिक कल्पनाओं की और भी पुष्टि की है। अपने पुराणों में विश्व की विराटता बतलाई गई थी, लेकिन शुरू में विज्ञानवादी इस

पृथ्वी को जगत् का केन्द्र मानते थे। टेलिस्कोपों (दूरबीन) से अब पता चलता है कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड की तुलना में एक कण के बराबर भी नहीं है। यह भी ज्ञात हुआ है कि ब्रह्माण्ड में सूर्य के समान असंख्य प्रकाश-केन्द्र हैं। यहाँ तक कि सृष्टि की अनन्तता का अनुमान अब पुराने विचारों के अनुसार नये विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है। इसी तरह, आइन्स्टाइन के रिलेटिविटी (सापेक्षवाद) के सिद्धान्त ने बतलाया है कि अभी तक पुराने वैज्ञानिक जिन वजन और लम्बाई को सत्य मानते थे, वे असल में देश-काल के अनुसार घटते-बढ़ते रहते हैं। भौतिक (प्राकृतिक)-वादी पहिले कहते थे कि सृष्टि में जो नाम-रूप की विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह परमाणुओं के संघात और रूपान्तर के कारण है। पर वहाँ अब ऐसा सोचा जाता है कि यह संघात किसी चेतनशक्ति ही के कारण, उसी की दृष्टि में और उसी के हेतु से होता है। तात्पर्य यह कि कुछ समय पहिले जो वैज्ञानिक लोग जड़वाद की सिद्धि में लगे रहते थे, अब वे भी अपने-अपने ढंग से परम तत्त्व की महिमा समझने लगे हैं। परन्तु भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य के कारण जो अनात्मिक शिक्षा कुछ काल से दी जा रही है, उससे नवयुवक बहुधा अपने शास्त्रीय प्रमाणों को न मानकर उन्हीं बातों को स्वीकार करते हैं जो युक्तियुक्त हों। ईश्वर के विश्वास को भी वे बुद्धि की कसौटी पर कसते हैं, हाल कि जड़ बुद्धि से चेतन ईश्वर की थाह पाना असम्भव है। इस प्रकार के तर्कवादियों को छोड़कर अधिकांश मनुष्य अवश्य मानते हैं कि ईश्वर है, पर वह किस प्रकार का

है, इसी में मतभेद है। सत्य बात तो यह है कि ईश्वर के स्वरूप को समझने या उसकी अपार शक्ति को नापने की कोशिश करने से हम उस अनन्त और महान् तत्व को सीमाबद्ध कर देते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् ने यथार्थ-कहा है कि "यदि हम परमात्मा को समझ सकें तो वह परमात्मा ही न रह जायेगा।" फिर भी हमारे ऋषियों ने अपने विलक्षण अनुभवों को तर्क और युक्तियों द्वारा हमारे सामने रख दिय है, जिससे हममें ईश्वर का यथार्थ ज्ञान होकर उसमें श्रद्धा बढ़े। उन्होंने जो प्रमाण ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में दिये हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१ हमारे हृदय में ईश्वर की भावना होती है, इसलिए ईश्वर अवश्य होना चाहिये।

२. प्रत्येक कार्य के लिये किसी कर्ता की आवश्यकता होती है। सृष्टि भी कार्य रूप है, इसलिए उसको रचनेवाली भी कोई चेतन-शक्ति होनी चाहिये। सब कार्यों का आदि-कारण ईश्वर ही है।

३. विज्ञानवेत्ता कहते हैं कि सब पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। इन जड़ परमाणुओं को अलौकिक रूप से संयुक्त करने के लिए कोई बुद्धिमान् व्यक्ति अवश्य होना चाहिये।

४. सृष्टि में जहाँ देखो वहाँ नियमितता दीखती है। सूर्य, पृथ्वी और तारागण अपने-अपने मार्ग से नहीं विचलते। इनको नियम पर स्थिर रखनेवाली कोई महान् शक्ति अवश्य होनी चाहिये।

५. सब धर्म मानते हैं कि कर्म से फल की प्राप्ति होती है।

इन फलों को उचित रूप से प्रदान करने की शक्ति किसी चेतन में ही होनी चाहिये।

६. श्रुति कहती है कि ईश्वर ध्रुव सत्य है।

७. जगत् में सदैव परिवर्तन होता रहता है जिसका कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होगा, और यह बिना किसी द्रष्टा के साथक नहीं हो सकता। यह द्रष्टा सर्वब्यापी ईश्वर ही होना चाहिये।

८. सृष्टि में जीवधारियों की रचना आश्चर्यमय है और हमारे मन की विचारशक्ति और भी अद्भुत है। इनका रचयिता भी कोई अनिवर्चनीय शक्तिसंपन्न व्यक्ति होना चाहिये।

९. नास्तिकों को बाहरी ज्ञान से ईश्वर में भले ही श्रद्धा न हो,परन्तु जब वे किसी बड़े संकट में पड़ जाते हैं, तो वे भी उसके निवारणार्थ किसी अदृश्य शक्ति का सहारा ढूँढ़ते हैं, क्योंकि उनका आंतरिक ज्ञान उनके मन को ईश्वर की ओर ले जाता है।

ईश्वर-सिद्धि के हेतु इसी प्रकार के अनेक विचार प्रकट किये जा चुके हैं, जो सब प्रकार के प्रमाणों (प्रत्यक्ष,अनुमान, उपमान, शब्द इत्यादि) का सहारा लेकर प्रमेय की सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। इस सब में अपनी आत्मा की सत्ता ही ईश्वर के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है। प्रत्येक मनुष्य को इस बात का अनुभव होता है कि "मैं हूँ" और योगियों को समाधि-अवस्था में मालूम होता है कि जीवात्मा परमात्मा

का ही अंश है। इस तरह व्यष्टि-अंश के द्वारा समष्टि-ब्रह्म का बोध हो जाता है। सत्य बात यह है कि ईश्वर तर्कसिद्ध हो अथवा न हो, जिज्ञासु को शांति मिलने के लिए ईश्वर का ही आश्रय फलीभूत होता है। इस दुःखमयी जीवन-सागर की यात्रा में एक ईश्वर-विश्वासरूपी नौका ही ऐसी है, जिसके सहारे विवेकी पुरुष सुख के किनारे पहुँच सकता है।

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में महात्मा गाँधी ने अपनी पुस्तक धर्म-पथ में लिखा है:—

"मैं बतलाऊँगा कि मैं ईश्वर में क्यों विश्वास करता हूँ। एक तरह की अकथनीय अज्ञात शक्ति सर्वत्र व्याप्त है, मैं उसका अनुभव करता हूँ, यद्यपि उसे देखता नहीं हूँ। इस अदृश्य शक्ति का अनुभव होता है, तो भी इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिन सब शक्तियों का ज्ञान मुझे इन्द्रियों से होता है, यह उन सबसे परे है। मगर मर्यादित क्षेत्र में ईश्वर का अस्तित्व युक्तियों से भी प्रमाणित किया जा सकता है। देहात के लोगों को बिना अपने राजा को देखे अनुभव होता है कि ऐसी कोई शक्ति है जो उन पर शासन करती है। इसी प्रकार मुझे भी अवश्य लगता है कि विश्व में नियमितता है, व्यवस्था है। सभी प्राणियों, सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिनका कि इस संसार में अस्तित्व है, कोई अपरिवर्तनीय, अटल नियम लागू होता है। यह कोई अन्धा निष्प्राण नियम नहीं है, क्योंकि कोई निष्प्राण नियम सजीव प्राणी पर शासन नहीं कर सकता। इसलिए जो नियम 'सभी प्राणियों पर शासन करता है वह परमात्मा है।

"मैं धुँधले तौर पर यह अनुभव जरूर करता हूँ कि जबकि मेरे चारों ओर सभी कुछ बदल रहा है, नष्ट भी हो रहा है, इन सब परिवर्तनों के नीचे एक जीवित शक्ति है, जो कभी भी नहीं बदलती, जो सबको एक में बाँधकर रखती है और जो नई सृष्टि पैदा करती है। यह शक्ति 'ईश्वर' है, 'परमात्मा' है और वह शक्ति शिव याने कल्याणकारी है, अशिव नहीं।

"मगर जिससे महज बुद्धि को संतोष मिले, वह परमात्मा नहीं है। ईश्वर तो तभी ईश्वर कहा जा सकता है जब उसका साम्राज्य हृदय पर हो। यह बाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता है, किन्तु परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले के आचार, व्यवहार तथा चरित्र के परिवर्तन से सिद्ध होता है। इस प्रकार की साक्षी सभी देशों तथा जातियों के नबियों और ऋषि-मुनियों की अटूट पंक्ति के अनुभव में मिलती है। इस प्रमाण को इन्कार करना मानो अपने अस्तित्व का ही निषेध करना है। मेरी श्रद्धा का कवच तो मेरा अपना ही मर्यादित और नम्र अनुभव है। मैं जितना ही शुद्ध, विकार-रहित बनने का प्रयत्न करता हूँ, मुझे परमात्मा उतना ही निकट जान पड़ता है।"

दुनियाँ के इतिहास से प्रतीत होता है कि आदिकाल से ही लोगों में ईश्वर की किसी न किसी प्रकार की भावना होती रही है। यहाँ तक कि अफ्रीका की जंगली कौमों में भी एक ऐसी विश्व-शक्ति पर भरोसा है, जो उनकी रक्षा करती है और मरने पर मुक्ति देती है। ईश्वर के अस्तित्व में शंका

करने वाले मनुष्यों की संख्या थोड़ी होती है। जो तर्क-वितर्क से उसे असिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वे नास्तिक भले ही कहलाएँ, पर वे शत्रु के रूप में उसकी आस्तिकों से ज्यादा खोज और याद करते हैं और बहुधा 'मरा-मरा' कहते हुए 'राम' तक पहुँच जाते हैं।

———

कोई भी व्यक्ति दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता; क्योंकि वह एक से घृणा करेगा या दूसरे को प्रेम करेगा या एक के प्रति विशेष स्नेह रखेगा तो दूसरे की अवज्ञा करेगा। तुम लोग भी एक ही साथ धन और ईश्वर की सेवा नहीं कर सकते।

—प्रभु ईसा

बौद्धधर्मीय सुप्रसिद्ध भिक्षुणियाँ

प्रा. शकुन्तला भुस्कुटे

भगवान बुद्ध के धार्मिक मत क्रांतिकारी थे। उन्हें धर्म के गहन से गहन तत्त्व, सर्वसामान्य लोगों को अत्यंत सरल शैली में समझाने की अप्रतिम कला साध्य थी। बहुजन समाज पर उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का प्रभाव सहज ही पड़ जाता था। उनका शिष्य-परिवार काफी विशाल था। बौद्ध-धर्मीय भिक्षु एवं भिक्षुणियों, उपासक एवं उपासिकाओं की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही थी। बौद्ध धर्मग्रन्थ में उपलब्ध कुछ अविस्मरणीय भिक्षुणियों की जीवनकथाएँ आज के लेख में प्रस्तुत कर रही हूँ। तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों से आयी हुई इन स्त्रियों के चरित्र मानवीय हैं। उनके जीवन में विविधता के साथ-साथ एकता के तत्त्व का आविर्भाव स्पष्ट दीखता है। इतिहास-संशोधन की कठोर कसौटी पर न कसते हुए इनके बारे में प्रचलित संक्षिप्त जानकारी से यदि इन महान् स्त्रियों के जीवन की विशेषताओं का विचार किया जाय, तो उनमें जो जीवन-सौन्दर्य है, उसका हमें अनुभव होता है। ऐसा आभास होता है कि आज के युग में भी वे जीवित हैं। अनादिकाल से चले आये अपरिवर्तनशील मानव-स्वभाव का प्रतिबिंब इनकी जीवन कथाओं में साकार हुआ दिखाई देता है।

कृशा गौतमी

श्रावस्ती नगर के एक गरीब क्षत्रिय कुटुम्ब में कृशा गौतमी का जन्म हुआ था। योग्यकाल प्राप्त होते ही उसके माता-पिता ने अनुरूप वर देखकर उसका विवाह कर दिया। कृशा गौतमी ससुराल तो गयी, परन्तु वहाँ उसे सुखप्राप्ति के बदले दुःखपूर्ण जीवन बिताने का ही दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। नैहर की दरिद्रावस्था के कारण अनेक प्रसंगों पर ससुराल के रिश्ते-दार उसका अपमान करते थे। कुछ वर्षों तक इस प्रकार का दुःखमय जीवन व्यतीत करने पर कृशा गौतमी के जीवन में आशा की नवीन किरण का प्रादुर्भाव हुआ। उसे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। अब उसका सारा ध्यान पुत्र पर केन्द्रित हो गया। वह इकलौते बालक का लालन-पालन अत्यंत दक्षता और प्रेम से करती। पर दुर्भाग्य से यह पुत्र-सुख उसे अधिक दिनों तक प्राप्त नहीं हुआ। किसी रोग के कारण उसका लाड़ला बेटा अचानक ही मृत्यु के मुख में चला गया। इस भयंकर आघात से कृशा गौतमी की मनःस्थिति पागलों की सी हो गयी। योग्य औषधोपचार से शायद अपना पुत्र जीवित हो जाय, इस भ्रमपूर्ण आशा से, वह अपने पुत्र का शव हाथों में लेकर, औषधि की याचना करते हुए दर-दर भटकने लगी। गौतम बुद्ध ने इसे भटकते हुए देखा। उनकी शांत और दयालु प्रवृत्ति देखकर कृशा गौतमी उनके समीप आयी और अपने दुःख की कथा उन्हें कह सुनायी। भगवान् गौतम ने शांति से उसकी कथा सुनी। वे समझ गये कि माया मोह में फँसी, अज्ञानी गौतमी पर केवल उपदेश का

कोई असर न होगा, उसके लिये तो कोई ठोस उपाय करना ही आवश्यक होगा। उन्होंने कहा, "मृत पुत्र का औषधोपचार वैसे तो सरल है, परन्तु यह आवश्यक है कि औषधोपचार प्रारम्भ करने के पूर्व, एक तोला राई ऐसे व्यक्ति के घर से लाई जाय, जिसके कुटुम्ब का एक भी व्यक्ति कभी भी मृत नहीं हुआ हो।" भोली-भाली कृशा गौतमी भगवान् गौतम के वचनों का मर्म न समझ सकी। सरलस्वभावा गौतमी ने सोचा कि भगवान् गौतम बुद्ध द्वारा सौंपा गया यह कार्य अत्यंत सरल है। मेरा पुत्र मुझे पुनः प्राप्त हो जायगा, इस कल्पना से उसका उत्साह द्विगुणित हो गया। वह तत्काल ग्राम की ओर छूट पड़ी। दिन भर वह दर-दर भटकती रही, परन्तु भगवान् गौतम द्वारा माँगे गये राई के चार दाने वह प्राप्त न कर सकी। उसका सारा उत्साह नष्ट हो गया। उत्साह का स्थान भयंकर निराशा ने ले लिया। उसका मन अन्तर्मुखी हो गया। वह अन्य व्यक्तियों के दुःख का विचार करने लगी। उसे सबके दुखों का ज्ञान हो गया। उसे विश्वास हो गया कि मृत्यु केवल मेरे ही पुत्र को ले गयी है, ऐसा नहीं है, बल्कि सबका मार्ग वही है। एवंविध बिचार करते करते कृशा गौतमी भगवान् गौतम के पास लौटी। तब-तक उसकी मनःस्थिति काफी शांत हो गई थी। राई के निमित्त से उसे संसार के दारुण दुःखों की यथायोग्य कल्पना हो गई, जीवन का एक महान् तत्त्व उसे अवगत हो गया। अनेक अभागे व्यक्तियों के दुःखों के सामने मेरा दुःख कोई विशेष बड़ा नहीं है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव उसे प्राप्त हुआ

कृशा गौतमी के हृदय में वैराग्यानल प्रज्वलित हो गया। नाशवान् वस्तुओं के प्रति आसक्ति रखना उचित नहीं है,ऐसी दृढ़ भावना उसके मन में उत्पन्न हो गई। उसने तत्कालीन रीति के अनुसार पुत्र का अन्तिम संस्कार किया। उसके बाद कृशा गौतमी का मन गृहस्थी से उचट गया। भगवान् गौतम को गुरु मानकर उसने धर्मतत्त्वों को स्वीकार किया और यथासमय बौद्ध भिक्षुणी संघ में प्रवेश किया। निर्मल-हृदया कृशा गौतमी ने कठोर धर्मसाधना की। तपश्चर्या के काल में 'मार' ने उसे भय दिखाया और उसकी एकाग्रता को भंग करने का भी प्रयत्न किया,परन्तु उसका सत्य स्वरूप पहचान कर गौतमी ने उसे दूर हटाया। उसकी साधना सफल हुई। इस संसार को त्यागने के पूर्व उसे ज्ञान-प्राप्ति हो गई थी।

पटाचारा

बौद्ध स्त्री-संघ की सुप्रसिद्ध विदुषी पटाचारा का जन्म श्रावस्ती नगर में एक अमीर साहूकार के घर हुआ था। उसके पिता ने उसे गृह-योग्य शिक्षा दी और यौवनावस्था में उसके पदार्पण करते ही एक गुणी तरुण से उसका विवाह तय किया। पटाचार का प्रेम अपने पिता की दूकान में काम करनेवाले एक युवक से था। उसके हृदय का रहस्य घर के लोग नहीं जानते थे। पटाचारा को पिता का विचार अच्छा नहीं लगा। अपनी इच्छा के विपरीत चुने गये वर से विवाह की संभावना देखते ही उसने गृहत्याग करने का निश्चय किया। कुछ आभूषण साथ लेकर पटाचारा अपने प्रियतम के

साथ किसी दूर शहर में चली गई। वहाँ विवाह कर उसने अपनी गृहस्थी प्रारम्भ की। कुछ वर्ष उन्होंने सुख में बिताये। एक दिन उसे अनुभव हुआ कि शीघ्र ही उसके घर में नवजात शिशु का आगमन होगा। उसका हृदय आनन्द से खिल उठा और उसी क्षण उसे अपनी माता का स्मरण हो आया। उसने मायके जाने के लिये अपने पति के पास काफी आग्रह किया, पर यह सोचकर कि श्वसुर-गृह में कहीं उसका अपमान न हो जाय, पति ने उसे अनुमति नहीं दी। पति के विरोध को न मानकर पटाचारा मायके जाने के लिये निकली, परन्तु कुछ दूर जाने पर वह प्रसूत हो गई और उसे पुत्र की प्राप्ति हुई। उसे ढूँढ़ता हुआ उसका पति वहाँ आया और उसे समझा-बुझाकर घर ले गया। इस घटना के बाद काफी वर्ष बीत गये। पुनः पटाचारा गर्भवती हुई। इस समय भी पति की इच्छा के विरुद्ध उसने मातृगृह जाने की तैयारी की और पति को सूचित न करते हुए, पुत्र को साथ लेकर उसने यात्रा प्रारम्भ की। पटाचारा के पति को विश्वास था कि मातृगृह के मार्ग पर ही वह अवश्य मिलेगी; इसलिये अन्य स्थानों पर न ढूँढ़कर उसने श्रावस्ती का मार्ग पकड़ा और शीघ्र ही वह पटाचारा के पास जा पहुँचा। माता पिता से मिलने की पटाचारा की उत्कट इच्छा देखकर उसने पटाचारा की इच्छा के अनुसार ही कार्य करने का निश्चय किया और यात्रा चालू रखी। मार्ग में उन्हें घने जंगलों में से जाना पड़ा। मार्ग की विकटता और यात्रा के कष्टों के कारण दोनों बहुत ही थक गये। पटाचारा को विश्रान्ति की अत्यन्त आवश्यकता

थी, परन्तु वहाँ आश्रय देने लायक योग्य स्थान न था। समीप ही जगह साफ कर वहीं आराम करने का दोनों ने निश्चय किया। उसका पति लकड़ियाँ तोड़ लाने के लिये समीप के जंगल में गया। काफी समय बीत जाने पर भी वह वापस न आया। यद्यपि वह वर्षाकाल नहीं था, फिर भी काफी जोरों से वृष्टि होने लगीं। और उसी समय पटाचारा को प्रसव वेदनाएँ होने लगीं। कुछ समय बाद उसे पुत्र हुआ। दोनों बच्चों को सम्हालते हुए उसने अपने पति की खोज प्रारम्भ की। कुछ दूर जाने पर उसे पति का मृत शरीर दृष्टिगोचर हुआ। विषैले सर्प के दंश के कारण घटनास्थल पर ही तत्काल उसकी मृत्यु हो गई थी। पटाचारा ने बड़ी कठिनाई से अपने दुःखी हृदय को सम्हाला। अत्यन्त उदास हो किसी प्रकार उसने पति का दाह-संस्कार किया और अपने दोनों पुत्रों को ले आगे बढ़ी। मार्ग में उसे एक नाला मिला। वृष्टि के कारण उसमें बाढ़ आई थी। दोनों पुत्रों को एक साथ लेकर नाला पार करना उसके वस की बात न थी। अतः पटाचारा ने बड़े पुत्र को वहीं रखा और छोटे बालक को लेकर वह नाले के उस पार चली गयी। वहाँ एक ऊँचे स्थान पर घास का नरम बिछौना तैयार कर उस पर उसने छोटे पुत्र को सुलाया और बड़े पुत्र को लाने के लिये वह वापस लौटी। जब वह प्रवाह के मध्य में थी, तो उसने यह भयंकर दृश्य देखा कि एक बड़ा-सा बाज पक्षी उसके नन्हें बालक को उड़ा कर ले जाना चाहता है। अपने स्थान से ही अपने दोनों हाथ उठाकर उस बाज पक्षी को भगाने का वह निष्फल प्रयत्न

करने लगी। इधर उसका हाथ हिलाना देखकर बड़े पुत्र ने समझा कि माता उसे हाथ हिला-हिलाकर बुला रही है, अतः पानी के प्रवाह में उतर कर वह माता के पास जाने लगा। परन्तु प्रवाह काफी तेज होने के कारण वह माता के पास न पहुँच सका और प्रवाह के साथ आगे बह गया। इधर छोटे पुत्र को भी वह बाज के चंगुल से न बचा सकी। इस तरह कुछ क्षणों में ही उसकी पूरी गृहस्थी उजड़ गई। अकल्पित रूप से अकस्मात् पटाचारा पर दुःखों का पर्वत टूट पड़ा। अत्यन्त दुःखी मनःस्थिति में उसने यात्रा समाप्त की और श्रावस्ती पहुँची। वहाँ भी दुर्भाग्य ने उसका पीछा न छोड़ा। माता-पिता के घर के स्थान पर उसे राख का एक प्रचण्ड ढेर मिला। उसका घर अग्नि में जलकर भस्म हो गया था। घर जलते समय छत की भयालों के नीचे दबकर माता-पिता और भाइयों की मृत्यु हो गई थी। इस भीषण अग्नि-प्रलय में पटाचारा का मातृगृह सम्पूर्णतः नष्ट हो गया। वह आशा लेकर आयी थी कि माता-पिता के प्रेमपूर्ण सहवास में और भाई-बहनों के सहानुभूतिमय व्यवहार से उसका दुःख भार काफी हलका हो जायगा। परन्तु सब घटनाएँ विपरीत ही हुईं। एक के बाद एक हुए तीव्र आघातों के कारण पटा-चारा विकल हो गई। इस समय उसे स्नेह और सहानुभूति की अत्यन्त आवश्यकता थी, पर वह उसे न मिली। इस दारुण दुःख को सहने की शक्ति उसमें न थी। वह पागल हो गई। श्रावस्ती के मार्गों पर शरीर के वस्त्र विदीर्ण करते हुए वह घूमने लगी। उसके शरीर पर कोई वस्त्र न टिकता था।

उसे सब लोग "पगली पटाचारा" के नाम से पहचानने लगे। वह अपने विगत वर्षों के जीवन को बिलकुल भूल चुकी थी। ऐसी विपदावस्था में वह एक दिन बौद्ध विहार के पास आई। वहाँ उस समय भगवान् बुद्ध निवास कर रहे थे। पटाचारा के आगमन के समय भगवान् गौतम वहाँ उपस्थित लोगों को उपदेश दे रहे थे। उनके पवित्र दर्शन से पटाचारा होश में आई और उसने अपनी परिस्थिति समझी। उसका पागलपन नष्ट हो गया और स्मरणशक्ति जागृत हो गई। उसने शरीर पर वस्त्र ठीक ढंग से पहने और अपने दुःखों की कथा भगवान् बुद्ध को सविस्तार निवेदित की! भगवान् ने उसे सान्त्वना दी। कुछ समय बाद पटाचारा की मनोवृत्ति पूर्णतया शान्त हो गई। उसने बौद्ध धर्मोपदेश ग्रहण किया और भिक्षुणी बनने की मनीषा भगवान् गौतम के पास प्रकट की। निराश्रिता पटाचारा का मन भिक्षुणी संघ में अच्छी तरह से रम गया। वहाँ उसने नियमित रूप से अध्ययन किया। विनय नियमों (विनयपिटक) का विशेष अभ्यास कर उसमें प्राविण्य प्राप्त किया। इस कारण विनयवान् भिक्षुणियों में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ। सामान्य विषयों में भी उसे गहन अर्थ प्राप्त होता था। उसने एकाग्रचित्त से धर्मतत्त्वों का चिन्तन किया और ज्ञान प्राप्त कर लिया। अपने जीवनकाल में उसने तीस भिक्षुणियों का अध्यात्म क्षेत्र में मार्गदर्शन किया और उनकी ज्ञान-प्राप्ति के लिये परिश्रम किया।

भद्दा कुंडलकेसा

एक दिन राजगृह को राजधानी में राज पुरोहित को पुत्र-

प्राप्ति हुई। इस पुत्र के जन्म के समय कुछ अशुभ घटनाएँ हुईं। राजधानी के शस्त्रास्त्र अपने आप प्रज्वलित हो गये। यह घटना देखकर राजधानी के लोगों को विश्वास हो गया कि राज्य पर कोई भयंकर संकट आनेवाला है। सारे शहर में भय का वातावरण फैल गया। तब राजा ने राजपुरोहित से इस घटना का मूल कारण पूछा। राजपुरोहित ने उत्तर दिया कि इन सब घटनाओं का कारण उसके पुत्र का जन्म है। उसने राजा को यह भी सूचित किया कि इस बालक के बारे में यह भविष्यवाणी की गई है कि बड़ा होने पर यह राज्य के प्रजाजनों को कष्ट पहुँचायेगा। उसने राजा को यह भी विश्वास दिलाया कि वह इस पुत्र को परदेश भेजने के लिये तैयार है। राजा ने जब देखा कि इस बालक के द्वारा उसे प्रत्यक्ष कोई हानि नहीं है, तब उसने बालक को राजधानी में रखने की अनुमति दे दी। राजपुरोहित ने इस पुत्र का नाम शत्रुक रखा और उस पर बचपन से ही अच्छे संस्कार डालने के लिए उसे उत्कृष्ट शिक्षा देने की व्यवस्था की। राजपुरोहित ने ऐसी योजना बनाई जिससे शत्रुक का खाली समय सुशील और सदाचारी बालकों के सहवास में व्यतीत हो। परन्तु अपने पुत्र को योग्य व्यवहार सिखाने के उस राजपुरोहित के सारे प्रयत्न निष्फल हो गये। बाल्यावस्था से ही शत्रुक चोरी की कला में पारंगत था। जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती गई, वैसे-वैसे छोटी-मोटी चोरियाँ वह बड़ी सफलता और चतुराई से करने लगा। अन्य व्यवसाय उसे बिलकुल ही प्रिय न थे।

राजपुरोहित को विश्वास हो गया कि इस पुत्र के भाग्य में चोरी का व्यवसाय छोड़ और कुछ भी नहीं है। अन्त में, शत्रुक द्वारा दिये गये कष्टों से त्रस्त होकर उसके पिता ने, इस व्यवसाय के लिये आवश्यक साधन और काले वस्त्र देकर उसे घर से बाहर निकाल दिया। शत्रुक लोहे का काँटा लगी हुई लकड़ी तथा रस्सी की सहायता से रात्रि के समय चोरी करता था। अल्पकाल में ही शत्रुक ने राजगृह के हजारों धनवान् नागरिकों की अनमोल सम्पत्ति चुरा ली। शत्रुक से त्रस्त होकर नागरिकों ने राजा के पास उसकी शिकायत की। लोगों द्वारा की गई शिकायतें सुन कर राजा ने कोतवाल को शत्रुक को पकड़ने की आज्ञा दी। कुछ दिनों के लगातार प्रयत्न के उपरान्त कोतवाल ने शत्रुक को बंदी बना लिया और चुराये गये माल एवं चोरी में प्रयुक्त आयुधों के साथ उसे राजा के सामने खड़ा किया। राजा ने शत्रुक के अपराधों के बारे में जाँच की। शत्रुक को अपराधी पाकर राजा ने आज्ञा दी कि उसे शहर के प्रत्येक मार्ग से अपमानित करते हुए घुमाया जाय और अन्त में ऊँचे शिखर से ढकेल कर उसे मार डाला जाय। सबको त्रस्त करनेवाला शत्रुक कैसा है, यह देखने के लिये हर मार्ग पर लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। शत्रुक देखने में सुन्दर था। बंदी और अपमानित अवस्था में भी उसका व्यक्तित्व उभरा हुआ था।

जब राजा के गण एक मार्ग पर से शत्रुक को ले जा रहे थे, तब एक धनवान वणिक की कन्या ने उसे देखा। उसी

क्षण उसके हृदय में शत्रुक के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। वह अत्यन्त लाड़-प्यार में पली इकलौती कन्या थी। उसने अपने पिता के पास हठ पकड़ लिया कि किसी भी उपाय से शत्रुक को मुक्त कर उसका विवाह उससे कर दें। उस कन्या का नाम था सुभदा। कुछ वर्षों वाद यही सुभदा भद्दा कुंडलकेसा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

अपनी कन्या का हर हठ पूर्ण करने की सुभदा के माता-पिता की आदत थी; परन्तु शत्रुक को मुक्त कर उससे अपनी कन्या का विवाह करना आसान न था। शत्रुक का व्यवहार अच्छा न था। फिर राजा के रोष का भय भी था। सुभदा को अपना हठ छोड़ देने के लिये उसके माता-पिता ने सब प्रकार से समझाया, परन्तु उसने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। अन्त में उसके पिता ने कोतवाल को एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की रिश्वत दी। राजाज्ञा के अनुसार कोतवाल ने शत्रक को दिन भर घुमाया पर रात्रि के समय सुभदा के पिता को सौंप दिया। शत्रुक के वदले एक अन्य अपराधी को सजा दे दी गई। कोतवाल के हाथों से शत्रुक जीवित बच गया होगा, ऐसी शंका भी किसी को न रही। सुभदा का पिता बड़े सम्मान के साथ शत्रुक को अपने घर ले आया, उसे सुगन्धित द्रव्यों से स्नान कराया और कीमती वस्त्र पहनने को दिये। सुभदा को भी उसके पिता ने विपुल अलंकार प्रदान किये और उसी रात्रि में सुभदा और शत्रुक का विवाह हो गया। ऐसी स्थिति में यह असम्भव था कि सुभदा के माता-पिता

नगर के प्रतिष्ठित लोगों को इस विवाह में आमंत्रित करते। पर सुभदा अत्यन्त प्रसन्न थी। मनोनुकूल पति प्राप्त होने के कारण सामान्य विवाहोत्सव से ही वह खुश हो गई थी। कन्या का उल्लास और आनन्द देख कर सुभदा के माता-पिता संतुष्ट हो गये। पर शत्रुक की मनःस्थिति कुछ और ही थी। सुभदा की अपेक्षा उसके स्वर्णाभूषणों तथा धन-दौलत की ओर ही उसका विशेष ध्यान था। मृत्यु-मुख से अचानक, अकल्पित रूप से मुक्ति पा कर सुभदा के समान सुन्दर और धनवान वधू प्राप्त हुई, इसका तो उसे विशेष आनन्द नहीं हुआ, बल्कि अपनी चतुराई से सुभदा के अलंकार किस तरह हस्तगत कर लिये जायें, इसी का विचार वह करने लगा। कुछ दिन शत्रुक सुभदा के घर शान्ति से रहा। पत्नी-प्रेम का उसने अच्छा नाटक खेला। एक दिन जब सुभदा काफी प्रसन्न थी, तब शत्रुक ने ऐसा स्वांग रचा मानो वह कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गुप्त बात उसे बता रहा है। पति की विश्वासपात्रा बन जाने की कल्पना से सुभदा अत्यन्त हर्षित हुई। शत्रुक ने सुभदा से कहा कि जिस दिन उसे चोटी से गिराकर मारने का दंड दिया गया था, उसी दिन उस शिखर की देवी के नाम से उसने संकल्प किया था कि यदि उसका प्राण-संकट दूर हो गया तो वह उस देवी के दर्शन करेगा। इस प्रकार का संकल्प अस्वाभाविक न होने के कारण सरलस्वभावा सुभदा ने शत्रुक के कथन को पूर्ण सत्य माना। संल्कप-पूर्ति का दिन निश्चित किया गया। शत्रुक ने कहा कि वह सुभदा को साथ ले जाना चाहता है। सुभदा ने

सोचा कि उस पर कृपा करके देवी ने उसकी इच्छा पूर्ण की है, इसलिये अत्यन्त उत्साहित मन से उसने शत्रुक के साथ जाने की तैयारी की। पति के आग्रह के अनुसार उसने अपने सारे अलंकार धारण किये और दास-दासियों को साथ लेकर उन्होंने उस शिखर की ओर प्रस्थान किया। सब लोग जब शिखर के नीचे पहुँचे, तब शत्रुक ने आज्ञा दी कि अन्य सब लोगों को छोड़ कर सुभद्रा अकेली ही उसके साथ आये। सुभद्रा के मन में ऐसी शंका तक न आई कि शत्रुक के मन में कोई षड़-यंत्र होगा। सुभद्रा इसी आनन्द में मग्न थी कि निसर्ग के रम्य सहवास में पति के साथ शिखर पर चढ़ने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ है। कुछ दूरी तक चढ़ने के बाद शत्रुक ने सुभद्रा को संबोधित कर कुछ अपशब्दों का उच्चारण किया। सुभद्रा आश्चर्य चकित हो गई। थोड़ी ही देर में वह समझ गई कि उस पर प्राणघातक संकट आ रहा है; पर उसने अपनी शांति बनाये रखी। शिखर पर पहुँचते ही शत्रक ने उसे आदेश दिया कि वह अपने सारे गहने उसे सौंप दे। सुभद्रा ने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा कि वह अपने पति के जीवन से पूर्णतया एकरूप हो चुकी है तथा अलंकारों के प्रति उसके हृदय में यत्किंचित् भी मोह नहीं है। पर अलंकार उतारने के पहले केवल एक इच्छा उसके हृदय में है, जिसे उसका पति पूर्ण करे। मृत्यु की गोद में फेंकने के पहले उसका पति उसे एक प्रेमपूर्ण आलिंगन दे दे। सुभद्रा की इस इच्छा की पूर्ति करने में कुछ भी हर्ज न मानकर शत्रुक ने हामी भर दी। आलिंगन के समय, शत्रुक को असावधान देखकर सुभद्रा ने

उसे पर्वत-शिखर से नीचे ढकेल दिया। शत्रुक के भाग्य में जो मृत्युदंड था, उस पर इस प्रकार उसकी पत्नी के द्वारा अमल किया गया। राजा के द्वारा शत्रुक को जो मृत्युदंड दिया गया था, वह इस प्रकार पूर्ण हुआ।

शत्रुक को नीचे ढकेलने के बाद सुभदा को वहाँ के वन-देवता की वाणी सुनाई दी, जिसका भावार्थ था कि यह सत्य नहीं है कि हमेशा पुरुष ही बुद्धिमान् होते हैं, प्रसंगानुसार स्त्रियाँ भी अपनी तीव्र बुद्धिमत्ता की झलक दिखा देती हैं।

सुभद्रा के वैवाहिक जीवन को इस प्रकार पूर्ण विराम मिल गया। अत्यन्त दुखित अंतःकरण ले कर वह शिखर से नीचे उतरी। इस दुर्घटना के बाद माता पिता के पास जाने की उसकी इच्छा नहीं हुई। सुभदा ने यह निर्णय लिया कि परिव्राजिका होकर वह शेष जीवन धर्मतत्त्व के चिन्तन में व्यतीत करेगी। अपने ही हाथों से अपने सुन्दर केशों का त्याग कर उसने जैन धर्म की दीक्षा ली। उसके बाद उसके केश कुंडलाकार में बढ़ने के कारण उसे भद्दा कुंडलकेसा नाम प्राप्त हुआ। कुछ ही वर्षों में उसने धर्म शास्त्र का गहन अध्ययन कर लिया और वक्तृत्व-कला में निपुणता पा ली। इसके बाद वह शरीर पर भस्म लेपकर, एक वस्त्र पहने हुए, गाँवों में घूमने लगी। जिस स्थान पर वह रुकती, वहाँ रेत का एक ढेर रख कर उसमें जामुन की एक शाखा लगा देती और उस ग्राम के वासियों को चुनौती देती कि जो कोई भी धर्मशास्त्र से संबंधित विषयों पर उससे वाद विवाद करना चाहे, वह आकर उस शाखा को रौंद दे। उसकी वाद विवाद

पटुता की कीर्ति चारों ओर फैल गई। इसी कारण बड़े-बड़े विद्वान् भी उससे वाद विवाद करने के लिये तैयार न होते थे। प्रत्येक ग्राम में सात दिनों तक निवास करने के बाद भद्दा कुंडलकेसा अगले स्थान पर जाती थी। इस प्रकार प्रवास करते-करते वह श्रावस्ती नगर में आई। उस समय भगवान् गौतम भी वहीं विहार में थे। उनके एक प्रमुख शिष्य भिक्षु सारिपुत्र ने भद्दा कुंडलकेसा की चुनौती स्वीकार कर ली और वाद विवाद में उसे हरा दिया। इसके बाद बौद्ध धर्ममतों को अंगीकार करके कुंडलकेसा ने विमल बुद्ध से उपसंपदा दीक्षा ले ली और शीघ्र बौद्ध भिक्षुणी-संघ में शामिल हो गई। उसने बौद्ध धर्म का अच्छी तरह अध्ययन किया और अंग, मगध,बज्जी, काशी एवं कोसल देशों में बौद्ध तत्त्वों का प्रचार किया। ऊसे ज्ञानदृष्टि प्राप्त हो चुकी थी।

चांडालिका

श्रावस्ती नगर में मातंगी नामक एक अस्पृश्य वर्ग की स्त्री रहती थी। उसके चांडालिका नामक एक सुन्दर कन्या थी। वह घर के काम-काज में अपनी माता की सहायता करती थी। एक दिन जब वह पनघट से पानी ला रही थी, तब भिक्षु आनन्द ने उससे पीने का पानी माँगा। वह प्यास से व्याकुल हो रहा था। चांडालिका ने सोचा कि उसका छुआ पानी भिक्षु आनन्द न पी सकेगा, अतएव पानी देने से नाहीं कर, वह गगरी लेकर अपने घर की ओर जाने लगी। भिक्षु आनन्द ने उसे रोका और पानी न देने का कारण पूछा। तब

उसने स्पष्ट बताया कि वह अस्पृश्य जाति की है, इसलिये उसने पानी देना अस्वीकार किया। भिक्षु आनन्द ने तब कहा कि वह जाति-भेद और स्पर्शास्पर्श के तत्त्वों का पालन नहीं करता। उसने चांडालिका से जल लेकर उसका प्राशन किया और प्यास बुझाकर जेतवन की ओर जाने लगा। इतना सौजन्यपूर्ण व्यवहार करनेवाला भिक्षु कहाँ निवास करता है,यह जानने के लिये चांडालिका भी उसके पीछे-पीछे गई। जेतवन देखकर वह वापस लौटी, पर उसका मन वहीं लगा रहा।

घर आकर उसने रास्ते की सारी घटना माता को विस्तारपूर्वक कह सुनायी और हठ पकड़ लिया कि उसका विवाह उस तरुण भिक्षु के साथ कर दिया जाय। मातंगी ने कई प्रकार से चांडालिका को समझाया। उसने कहा कि भिक्षु उच्चवर्गीय है, ब्रह्मचारी है; यद्यपि उसने जातिभेद का त्याग कर दिया है, तथापि उसने वैराग्यव्रत धारण किया है; अतएव चांडालिका उसका मोह त्यागकर अपनी ही जाति के किसी सुन्दर होनहार युवक से विवाह करे; परन्तु चांडालिका का निश्चय नहीं बदला। उसने मातंगी को अपने इस निश्चय की स्पष्ट सूचना दे दी कि वह विवाह करेगी तो भिक्षु आनन्द से ही। मातंगी का मातृहृदय सहानुभूति से भर आया। उसने स्थिर किया कि वह भिक्षु आनन्द को अपनी कन्या के निश्चय से अवगत करा देगी और प्रयत्न करेगी जिससे भिक्षु भी सहमत हो जाय।

दूसरे दिन मातंगी ने भिक्षु आनन्द को अपने घर भोजन के लिये आमंत्रित किया। उसने भिक्षु के पास अपनी कन्या की इच्छा प्रकट की। किन्तु भिक्षु पर कन्या और माता के कहने का कोई परिणाम नहीं हुआ। उन दोनों ने उसे डराया धमकाया, प्यार से उनका मन बदलने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि अन्त में मातंगी ने उस पर मंत्र विद्या का भी प्रयोग किया, पर कोई फल न हुआ। भिक्षु आनन्द अपने मनोनिग्रह से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। लाचार हो अपने घर में बंदी बनाकर रखे हुए भिक्षु आनन्द को उन्होंने मुक्त कर दिया। जेतवन में वापस आने के बाद भिक्षु आनन्द ने सारा वृत्तान्त भगवान् गौतम को बताया और इस झंझट से उसे मुक्त करने की उनसे प्रार्थना की।

दूसरे दिन चांडालिका ने पुनः भिक्षु आनन्द का पीछा किया। उसके साथ वह विहार में आई। उस समय भगवान् गौतम ने उसे देखा। उन्होंने चांडालिका को अपने पास बुलाया और उसका अभिप्राय पूछा। बाद में उन्होंने उससे कहा—"भिक्षु आनन्द मेरा प्रिय शिष्य है। उसके साथ अगर तुम विवाह करना चाहती हो, तो तुम्हें मुंडन कराना होगा। घर जाकर माता-पिता की अनुमति ले लो और मुंडन कराकर विहार में वापस लौट आओ।" भगवान् गौतम का तात्पर्य चाँडालिका समझ न सकी। भिक्षु आनन्द को पति-रूप में प्राप्त करने की कल्पना मात्र से उसे अत्यन्त आनन्द हुआ। तत्काल वह माता के पास गई और भगवान् गौतम का

संदेश उसे बताया। मातंगी समझ गई कि वह विवाह का मार्ग नहीं है। उसने कन्या को पुनः समझाया कि विवाह-समारम्भ में मुंडनको स्थान नहीं है, अतएव वह अपना आग्रह छोड़ दे; परन्तु चांडालिका ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। मुंडित होकर वह भगवान् गौतम से मिली। तब भगवान् गौतम ने उससे कहा, "ठीक है, तुम्हारा भिक्षु आनन्द पर निरतिशय प्रेम है, परन्तु क्या तुम जानती हो कि मानव-शरीर गंदगी का आगर है और मानव-सौन्दर्य अल्प काल तक ही रहता है? शरीर नाशवान् है। मानवी जीवन के लिये मृत्यु निश्चित है, और जहाँ मृत्यु है वहाँ दुःख भी है। तुम यदि भिक्षुक आनन्द से विवाह करोगी, तो तुम्हारे भाग्य में दुःख के सिवाय क्या होगा?"

भगवान् बुद्ध की बातें सुनकर चांडालिका उनके शब्दों और विचारों में छिपे मर्म को समझ गयी। भगवान् गौतम का उपदेश उसकी समझ में आ गया। अपने अज्ञान के सम्बन्ध में वह सचेत हो गई। मोहनिद्रा से उसका मन जाग उठा। उसके मन में वैराग्य की भावनाएँ लहर लेने लगीं। उसने भगवान् गौतम के धर्मतत्त्वों को स्वीकार किया और उनकी अनुमति से भिक्षुणी-संघ में प्रवेश किया। कालान्तर में उसे भी अक्षय ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

इसिदासी

इसिदासी का जन्म उज्जैन में एक धनी वैश्य कुलमें हुआ

था। अपने माता-पिता की वह इकलौती सन्तान थी। अतः उसका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से किया गया था। विवाह-योग्य अवस्था प्राप्त होने पर कुल-शीलवान् अनुरूप वर के साथ उसका विवाह कर दिया गया। माता-पिता ने काफी धन दहेज के रूप में देकर उसे श्वसुर के घर भेजा। अल्पकाल में ही इसिदासी ने ससुराल के लोगों को अपना बना लिया, परन्तु दुर्दैव से वह पति का प्रेम न पा सकी। उसने पति का मन जीतने के लिये अनेक प्रयत्न किये, पर सफल न हो सकी। कुछ दिनों के बाद उसके पति के मन में अपने घर के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई। उसने अपने माता पिता को बताया कि वे इसिदासी को उसके मायके पहुँचा दें। अपनी इच्छा के अनुसार कार्य न होने पर उसने घर छोड़ देने की भी धमकी दी। अन्त में माता-पिता ने उसे समझाना छोड़ दिया और इसिदासी को उसके मायके पहुँचा दिया। परित्यक्ता इसिदासी पुनः संसार-सुख प्राप्त हो, इस उद्देश्य से उसके माता-पिता ने उसका दूसरा विवाह एक सामान्य परिस्थिति के युवक से कर दिया। परन्तु कुछ दिनों बाद इतिहास की पुनरावृत्ति हुई और इसिदासी फिर से मायके वापस आ गई।

अपनी सुशीला कन्या को इस प्रकार दुःखित देखकर पुनः उसका विवाह कर देने का विचार पिता ने किया। इसिदासी का तीसरा विवाह पीतवस्त्रधारी एक ब्रह्मचारी के साथ किया गया, परन्तु विवाह के पन्द्रह दिन बाद ही इस

वर ने गृहस्थ मार्ग का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया। इसिदासी पुनः घर वापस आ गई। उसके माता-पिता को पूर्ण विश्वास हो गया कि इसिदासी के भाग्य में गृहस्थी का सुख नहीं है। इसिदासी ने निश्चय किया कि वह अब अपना जीवन धर्म-साधना में व्यतीत करेगी। उसने कठोर व्रतों का पालन किया। उसकी वृत्ति शांत और गंभीर हो गई। कुछ वर्षों बाद बौद्ध भिक्षुणी जीनदत्ता से उसकी भेंट हुई। उसके द्वारा इसिदासी को बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। माता-पिता के विरोध की परवाह न करते हुए इसिदासी भिक्षुणी बन गई। उसने घोर तपस्या की। उसे पराविद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ। बौद्ध भिक्षुणी-संघ की एक विद्वान् तपस्विनी के रूप में इसिदासी की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

उप्पलवण्णा

सुन्दरी उप्पलवण्णा का जन्म श्रावस्ती के एक ऐश्वर्य सम्पन्न कुटुम्ब में हुआ। उसकी अंगकान्ति कमल पुष्प के समान सुन्दर होने के कारण उसके माता-पिता ने उसका नाम उप्पलवण्णा (उत्पलवर्णा) रखा था। यथासमय उसने यौवन में पदार्पण किया। उसके अनुपम सौन्दर्य की कीर्ति सुनकर कई देशों के राजकुमारों ने विवाह के लिये अपने प्रस्ताव भेजे अब उनमें से किसे चुना जाय, यह एक गम्भीर समस्या उसके पिता के सामने आ खड़ी हुई। अन्त में पिता ने यह विचार किया कि यदि कन्या, विवाह का विचार छोड़कर, प्रव्रज्या ले लेती है, तो उसकी प्राप्ति के लिये मचने वाला भावी युद्ध-

संघर्ष टाला जा सकता है। बड़े ही धीरज के साथ उन्होंने अपना निश्चय अपनी कन्या के सामने रखा।

उत्पलवर्णा बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति की थी। वैराग्य-शील जीवन के बारे में उसके मन में आदर था। अतः आप ही आप इस मार्ग का अनुसरण करने का सुअवसर प्राप्त होने से उसे अत्यन्त आनन्द हुआ। बड़े ही उत्साह के साथ उसने पिता के निश्चय को स्वीकार किया। उसके जीवन को एक भिन्न दिशा प्राप्त हो गई। अनेक वर्षों तक उसने ज्ञानोपासना की। 'मार' ने उसे त्रस्त भी किया, पर उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। प्रख्यात विदुषी के रूप में उसका गौरव हुआ। अनेक जिज्ञासु साधकों ने उसकी विद्वत्ता से लाभ उठाया। उसके जीवन के विशेष पहलू थे नियमानुसार तपस्या और शुद्धाचरण।

और कुछ भिक्षुणियाँ

भिक्षुणी धम्मदिन्ना नाम की एक सुप्रसिद्ध धर्मोपदेशिका थी। इसके पूर्वाश्रम का पति विशाख, राजा बिंबिसार का प्रिय मित्र था। प्रारम्भ से ही इस दम्पति का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था। कुछ वर्षों तक आनन्द से गृहस्थाश्रम का उपभोग करने के बाद विशाख ने वैराग्यपूर्ण जीवन बिताने का निश्चय किया। अपनी सारी संपत्ति पत्नी को सौंपकर उसने गृह त्याग दिया। पति द्वारा प्रदत्त अतुल धनसम्पत्ति के प्रति धम्मदिन्ना के मन में मोह उत्पन्न नहीं हुआ। पति की

अनुमति लेकर वह भी भिक्षुणी बन गई। उसने अपना सारा जीवन ज्ञानसाधना में व्यतीत किया। कालानन्तर में उसे अर्हत्पद प्राप्त हो गया।

बौद्धग्रंथों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सोमा नामक कोई महान् तपस्विनी थी। बौद्ध धर्मतत्त्वों को स्वीकार करने के बाद उसने उग्र तपस्या की। वैराग्यपूर्ण जीवन के प्रारम्भ में मार ने उसे काफी डराया और उसके एकाग्र मन को विचलित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे सफलता न मिली। सोमा को अन्त में ज्ञान-प्राप्ति होगई। उसके द्वारा रचित कुछ श्लोक थेरीगाथा में पाये जाते हैं।

सोणा भिक्षुणी ने वृद्धावस्था तक गृह-सुखों का उपभोग किया। उसका घर धनधान्य और संतति से भरा-पूरा था। जीवन की संध्या के समय उसके कमाऊ पुत्रों ने उसकी ओर ध्यान न दिया। घर में भी उसकी कोई आवश्यकता न थी। वृद्धावस्था में उसने भगवान् गौतम का उपदेश ग्रहण किया। उसे भी अक्षय ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

भिक्षुणी सकुला का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था। वैवाहिक जीवन में उसका मन नहीं रमा। बाल-बच्चों से भरे-पूरे संसार को बीच में छोड़कर उसने तपस्विनी का व्रत धारण कर लिया। ध्यान-समाधि के द्वारा उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी।

भद्रा कापिलानी ने भी, भिक्षुणी सकुला के समान, भरी जवानी में संसार-सुखों का त्याग किया था। जब भद्रा कापि-

लानी और उसके पति को यह अनुभव हुआ कि संसार दोष-पूर्ण है, तब उन दोनों ने एक ही मार्ग का अनुसरण किया। भद्दा कापिलानी को अपने पूर्व जन्म की घटनाएँ स्मरण थीं।

भगवान् गौतम के एक शिष्य सिगाल की माता ने भी नाम से भिक्षुणी धर्म की दीक्षा ली थी। यह भिक्षुणी 'सिगाल माता' प्रसिद्ध हुई।

संघमित्रा

भगवान् गौतम के निर्वाण के बाद जो बौद्ध भिक्षुणियाँ प्रसिद्ध हुईं, उनमें संघमित्रा एक सर्वश्रेष्ठ धर्मोपदेशिका थी। यह चक्रवर्ती सम्राट् अशोक की लाड़ली लड़की थी। भारत के आबाल वृद्ध सभी जानते हैं कि अशोक के जीवन में एक क्रांति हुई थी जिसके बाद उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। कलिंग पर चढ़ाई के बाद अशोक ने अहिंसाव्रत ले लिया था। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये विद्वान् प्रचारकों को विदेश भेजना आवश्यक था, अतएव उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के तत्त्वों की शिक्षा दी। इन दोनों ने धर्मकार्य के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग करने का निश्चय किया। महेन्द्र ने लंका की ओर प्रस्थान किया और वहाँ धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। वहाँ के नारी-समाज को जागृत करने के लिये संघमित्रा भी लंका गई। धर्मकार्य के लिये मातृभूमि को छोड़कर बाहर जानेवाली यह प्रथम राजकन्या थी। संघमित्रा के उत्कट त्यागमय जीवन के कारण

अनेक स्त्रियों को बौद्ध धर्म के महान् तत्त्व मालूम हो सके। कुछ स्त्रियों ने भिक्षुणी बनने की भी दीक्षा ली। संघमित्रा को अर्हत्पद प्राप्त हुआ था। उसकी मृत्यु होने पर लंका के राजा ने राजकीय सम्मान के साथ राजकुमारी का अन्त्य-संस्कार किया। लंका में महेन्द्र और संघमित्रा का कार्य अमर हो गया। आज भी वहाँ की अधिकांश जनता बौद्ध धर्मानुयायी है।

—'जीवन-विकास' से साभार।
(अनु०—सौ० विद्या गोलवलकर)

———

प्राणियों के प्रति दया, भक्तों की सेवा और ईश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन, यही गृहस्थों का धर्म है।

—भगवान् श्री रामकृष्ण

प्रकृति और आनन्द

श्रावस्ती की महानगरी। दोपहर का समय। भिक्षु आनन्द को भिक्षार्थ निकले काफी समय हो गया था। उन्हें बड़ी प्यास लगी थी। उनकी दृष्टि आसपास जल के लिये घूम रही थी। उन्होंने देखा, थोड़ी ही दूर पर एक युवती कुएँ से जल खींच रही थी। आनन्द उधर ही बढ़ गए। काशाय वस्त्रधारी भिक्षु को अपनी ओर आते देख वह युवती समझ गई कि वे प्यासे होंगे। उसने जल निकालने का पात्र अलग रख दिया।

"भद्रे, मुझे जल पिला सकोगी?"

"पर, भिक्षु, मैं तो अत्यन्त नीच कुल की, एक चाण्डाल कन्या हूँ! आप मेरा छुआ जल किस प्रकार ....।"

आनन्द ने बाधा दी, "भद्रे, मैंने तो जल माँगा था! तुम्हारी जाति या गोत्र के विषय में कब पूछा? बड़ी प्यास लगी है। शीघ्र जल पिला दो।"

जीवन में पहली बार एक कुलीन एवं उच्च-वर्ण के व्यक्ति को इस प्रकार व्यवहार करते देखकर, प्रकृति आश्चर्य चकित थी। बिना प्रतिवाद किये उसने भिक्षु को जल पिला दिया। आनन्द के इस ब्यवहार से वह इतनी प्रभावित हुई कि उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह भगवान् बुद्ध के पास ही जा पहुँची। आज उसे पहली बार बोध हुआ था कि वह भी अन्य लोगों की तरह मनुष्य थी, उसका भी कोई मूल्य था; वह केवल उपेक्षित और अछूत प्राणी मात्र न थी! प्रकृति ने तथागत से जो अमृतमय उपदेश सुना, उससे उसे और भी शान्ति मिली, साहस और प्रेरणा मिली। प्रकृति

ने भगवान् बुद्ध से शिष्यत्व की याचना की। तथागत ने उसकी इच्छा पूरी कर दी।

❀ ❀ ❀

जब महाराज प्रसेनजीत ने यह समाचार सुना तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। एक नीच कुल की अछूत कन्या, तथागत की शिष्या ही नहीं, धर्म प्रचारिका भी बन गई! ब्राह्मणों पर मानों वज्रपात हो गया। शूद्र और धर्म-प्रचार! मानों धर्म की हत्या हो गई! क्रुद्ध ब्राह्मणों ने तथागत से इसका समाधान प्राप्त करना चाहा। वे तथागत से मिलने चल पड़े। भगवान् ने ब्राह्मणों की बात शान्ति पूर्वक सुनी। अत्यन्त अमृतमयी वाणी में उन्होंने ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए कहा--

"संसार में अनेक सरिताएँ हैं। सबके अलग-अलग नाम हैं। अलग-अलग उद्गम हैं। पर जब वे सागर में मिल जाती हैं, तब उनका पूर्व नाम या गोत्र शेष नहीं रह जाता। वे केवल उस सागर-विशेष को लेकर जानी जाती हैं, जिसमें वे मिल जाती हैं। उसी प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी जब तथागत के बताये गृहत्याग एवं प्रव्रज्या के मार्ग में दीक्षित हो जाते हैं, तो उनका भी पूर्व नाम और गोत्र शेष हो जाता है। वे तब शाक्य-पुत्र श्रमण के ही नाम से जाने जाते हैं।"

तथागत के उपदेश से ब्राह्मणों का भ्रम दूर हो गया। वे श्रद्धापूर्वक नतमस्तक होकर लौट गये।

———

नारी और नैतिक जीवन

प्रा. स्नेहलता शर्मा

मानव-विकास के इतिहास को आदिम युग के पृष्ठों से देखना प्रारम्भ करें, तो चिर विकास की अविरल परम्परा लिये हुए वर्तमान का जीवनधारी पृष्ठ इस तथ्य की घोषणा करता है कि विश्व के विराट् सृजन में उस सृजनकारी का कोई महत् उद्देश्य निहित है जिसकी पूर्ति वह दो आधार-स्तम्भ प्राणियों—स्त्री और पुरुष—को लेकर करना चाहता है। जिस प्रकार मेहराब के रूप में स्थिर रहनेवाली शिला की दृढ़ स्थिति के लिए उन दोनों आधार स्तम्भों की दृढ़ता अपेक्षित है जिनपर वह आधारित रहती है, उसी प्रकार ईश्वर की यह विश्व रूपी मेहराब पुरुष और नारी दोनों आधार स्तम्भों के दृढ़ रहने पर ही चिरस्थायी और सौंदर्य-प्रसार का साधन हो सकती है।

विकास की परम्परा में पुरुष और नारी दोनों सहयोगी हैं। उन्नति के समस्त उपकरण ईश्वर ने इन दो प्राणियों में सँजो दिये हैं। पुरुष अगर बाह्य शक्ति का अधिष्ठाता है तो नारी आंतरिक शक्ति की अधिष्ठात्री है। अंत:सलिला पयस्विनी की भाँति संसार के समस्त उदात्त गुणों का पोषण और रक्षण नारी-हृदय की सात्त्विक छाया में हुआ है। कवि प्रसाद ने एक स्थल पर कहा है:--

> "नारी तुम केवल श्रद्धा हो
> विश्वास रजत-नग पग तल में।

पीयूष स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

सत्य ही नारी श्रद्धा की साकार प्रतिमूर्ति है और श्रद्धा का एक मात्र अवलम्ब किसी महान् चरित्र का व्यक्तित्व अथवा किसी पुंजीभूत-उदात्तता की सक्रियता है। जिस प्रकार मानव-चिन्तन का चरमोत्कर्ष अध्यात्म चिन्तन की सीमा-रेखा में आबद्ध है, उसी प्रकार मानवीय भावना का चरमोत्कर्ष श्रद्धा की सात्त्विक अनुभूति का स्थापन है। इस सात्त्विक अनुभूति की संस्थापना ही नारी की गरिमा है।

नारी के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को हम प्रथम पुत्री अथवा भगिनी फिर पत्नी और तब माता के रूप में देखते हैं। किसी परिवार में पुत्री के रूप में जन्म लेनेवाली बालिका किसी अन्य परिवार में मातृत्व को प्राप्त कर अपने नारीत्व का चरम विकास पाती है। अपने शिशु के लालन-पालन और उसकी प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करने में उसके समस्त सुप्त और अविकसित गुण धीरे-धीरे सचेतन और सक्रिय होकर विकास और परिष्कार को प्राप्त होते हैं। पुत्री और भगिनी के रूप में वह जन्म से ही शान्ति, सहिष्णुता, त्याग और सेवा की शिक्षा ग्रहण करती है और परिवार में स्नेह के अलौकिक वातावरण का निर्माण करती है। परिवारों का संगठित रूप समाज है और समाज का संगठित रूप राष्ट्र, और समस्त राष्ट्रों का सामूहिक रूप विश्व की संज्ञा पाता है। इस प्रकार नारी के दायित्व का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। सम्पूर्ण

विश्व की शांति परस्पर के स्नेह, सहिष्णुता, सेवा, त्याग, दया, क्षमा, उदारता आदि भावनाओं पर निर्भर करती है और इन सभी भावनाओं की साकार प्रतिमा नारी हुआ करती है। महात्मा गाँधी ने अनेक स्थलों पर नारी के महामहिम स्वरूप को विभिन्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है:—

"I have regarded woman as an incarnation of tolerance..."

"Woman is the embodiment of sacrifice and, therefore, non-violence."

"I have worshipped woman as the living embodiment of the spirit of service and sacrifice."

—अर्थात्, "मैंने नारी को सहिष्णुता की अवतार के रूप में समझा है।"

"नारी त्याग की प्रतिमूर्ति है, और इसीलिए अहिंसा की भी।"

"मैंने त्याग और सेवा-भाव की जीती-जागती मूर्ति के रूप में नारी की उपासना की है।"

नारी का यही महामहिम स्वरूप आदिम काल से चला आ रहा है। यह बात पृथक् है कि उक्त उदात्त गुण उसके चरित्र में पहले अल्पविकसित या अर्धविकसित अवस्था में रहे हों। आदिमानव का जीवन छोटे-छोटे स्वतंत्र समूहों को छोड़-कर जैसे-जैसे विराट् सामाजिक जीवन में परिवर्तित होता गया, वैसे-वैसे जीवन की कसौटी, जीवन के दायित्व और

उसके मानदण्ड भी बढ़ते चले गये, और विश्व की सर्वांगीण विकास-परम्परा में नारी-गुणों का भी विकास और प्रसार होता रहा। विश्व-जीवन के सम्पूर्ण विकास को हम 'सम्यता' और 'संस्कृति, नामक दो शब्दों में आबद्ध कर देते हैं। एक बड़े लेखक का कहना है :—

"संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने को परिचित करना संस्कृति है।" किसी ने कहा है :—

"संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है"—"यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है।"

टाइलर के अनुसार—"संस्कृति वह जटिल तत्त्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीतिरिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।"

सर्वोत्तम बातें', 'मानसिक शक्तियाँ', 'आचार' आदि शब्दों को हम अन्तिम परिभाषा में आये 'नीति' शब्द के निकट मान सकते हैं।

नारी, पुरुष, परिवार, समाज और विश्व के विकास की बातें जब हम करते हैं, तब 'सर्वोत्तम बातें', 'मानसिक शक्तियाँ','आचार', 'नीति' आदि से उस विकास के सम्बन्ध पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। संसार में सम्भवतः

ऐसा कोई सामान्य बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य—स्त्री या पुरुष—नहीं है जो नैतिक भेदों को प्रकट करने वाले शब्दों का व्यवहार नहीं करता। जहाँ मनुष्य बातचीत करता है, वहाँ समाज होता है, और समाज का अस्तित्व आवश्यक रूप में नैतिक मूल्यांकन के अस्तित्व से सहचरित है। तात्पर्य यह कि नैतिकता का अनुभव सब मानवीय समाजों की एक सार्वभौम विशेषता है। श्रेष्ठता या श्रेयत्व, हमारी समझ में, जीवन का गुण है अथवा जीवनानुभूति का। चेतन प्राणियों की सापेक्षता में ही सौंदर्य, रंग आदि का कुछ महत्त्व होता है; उसी प्रकार श्रेयत्व भी जीवन का सापेक्ष तत्त्व है। रंग तथा सौंदर्य बाहरी वस्तुओं में हो सकता है, सम्भवतः होता है, किन्तु चरम मूल्यों का अधिष्ठान वे वस्तुएँ नहीं, अपितु उन वस्तुओं का अनुचिन्तन और उसके द्वारा आनन्द लेने की क्रियाएँ हैं। एक नैतिक कर्म की भाँति सुन्दर वस्तु का मूल्य भी साधनात्मक होता है। साध्य अथवा चरम मूल्य वे अनुभूतियाँ हैं जो सुन्दर वस्तुओं तथा नैतिक कर्मों द्वारा जगायी जाती हैं।

नैतिक कर्म वह नहीं है जो जीवन की मात्रा को बढ़ाता है, नैतिक अथवा धार्मिक व्यापार वह है जो पूर्वचालित जीवन को सुखी तथा श्रेष्ठतर बनाने में सहायक होता है।

आत्म-दमन, दूसरों के लिए स्वतः के सुख, समय, शक्ति, धन, विश्राम आदि का त्याग, उच्चकोटि की नैतिकता में आवश्यक तत्त्व होता है। किसी नैतिक कर्म की महत्ता का मूल्यांकन दो प्रकार से किया जाता है। प्रथमतः यह देखा जाता है कि व्यक्तिविशेष ने कितना कष्ट सहकर परोपकार

किया। दूसरा यह कि वह कष्ट अपने स्वरूप में कितना बड़ा था जिसे झेलकर उसने परोपकार किया और वह परोपकार, वह कल्याण कितना विस्तृत और किस कोटि का है। इन्हीं मापदण्डों से हम बुद्ध, ईसा तथा महात्मा गाँधी जैसे नैतिक वीरों के महत्त्व का अनुमान कर सकते हैं। किसी भी कवि, विचारक या संत को हम तब तक नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं कह सकते, जब तक कि उसके चिन्तन, साधना अथवा कला-सृष्टि के पीछे मानव-जाति के कल्याण करने की सचेत भावना भी वर्तमान न हो। नैतिक जीवन के नियम यह निर्देश करते हैं कि मनुष्य सामाजिक सन्तुलन अथवा औचित्य की रक्षा के लिए कैसे व्यवहार करे। विशेषतः वे यह बताते हैं कि मनुष्य क्या न करे।

नारी के स्वरूप और नैतिकता की व्याख्या करने के पश्चात् देखना यह है कि नारी और नैतिक जीवन का क्या सम्बन्ध है। सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में नारी से न जाने कहाँ कैसा अपराध हो गया कि तमाम कवियों और साधकों ने नारी को मायारूपिणी कहकर 'माया महाठगिनी हम जानी' का समर्थन कर दिया; कह दिया कि संसार की कोई उच्च उपलब्धि नारी के संसर्ग से प्राप्त नहीं हो सकती, सारी ही समाज की हीनावस्था, पतितावस्था का कारण है! पवित्र यज्ञ-कर्म में भाग लेने वाली, शंकराचार्य जैसे प्रकाण्ड विद्वज्जनों से शास्त्रार्थ करने वाली, समय समय पर राष्ट्र-रक्षा में सन्नद्ध होने वाली और, इन सबसे भी परे, महा-पुरुषों को जन्म देने वाली, दिव्य संस्कारों के पालने में अबोध

शिशु को भुलाकर बुद्ध बना देने वाली नारी नैतिकता की विरोधी हो सकती है इसे बुद्धि सम्पन्न कोई व्यक्ति स्वीकार न करेगा। वास्तव में हम अपने भीतर की दुर्बलता से अनभिज्ञ, पतन का दोष अपने ही दूसरे अंग पर डाल रहे हैं। भय है, कहीं ऐसा न हो कि लांछनों और प्रतारणाओं के भार से दबता-दबता वह अर्धाङ्ग कुचलकर अस्तित्वहीन हो जाय--भौतिक स्वरूप से न सही, बौद्धिक स्वरूप से ही। भारतीय जीवन में ऐसी आशंकाएँ अधिक दृष्टिगोचर होती हैं। इसीलिए गाँधीजी ने एक स्थल पर कहा है—

"Woman is described as man's better half. As long as she has not the same rights in law as man, as long as the birth of a girl does not receive the same welcome as that of a boy, So long we should know that India is suffering from partial paralysis."

—अर्थात्, "नारी को पुरुष का उत्तमार्ध कहा जाता है। जब तक उसे कानूनन् पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते, जब तक लड़की का जन्म भी लड़के के जन्म की ही भाँति आनन्दप्रद नहीं हो जाता, तब तक हमें समझना होगा कि भारत खण्ड पक्षाघात से पीड़ित है।"

नैतिकता की चर्चा करते समय हमने स्पष्ट किया है कि वे कार्य जिनसे स्वतः के सुखों का परित्याग और परोपकार तथा परकल्याण होता हो, नैतिक गुणों के अंतर्गत आते हैं मातृत्व का गुण नारी का वह गुण है जिसके समकक्ष पुरुष का कोई भी श्रेष्ठ गुण नहीं रखा जा सकता। श्री रामकृष्ण

परमहंस ने नारी को सदैव साक्षात् आनन्दमयी माता के रूपमें ही देखा--वह माता जो सहिष्णुता,पवित्रता, निःस्वार्थ, स्नेह, त्याग और दया तथा क्षमा की प्रतिमूर्ति है, जिसकी आत्मा इन समस्त गुणों की पुंजीभूत सत्ता सं दृढ़ होती है। अपने प्रत्येक शिशु को शिक्षा देते हुए वह कहती है—"बुराई से बचो, अच्छे बनो।" अच्छे बनना समाज-सापेक्ष गुण है जिन कामां के प्रतिपादन से समाज का कल्याण होता है, वे कर्म अच्छे होते हैं और ऐसे अच्छे कार्यों को सम्पादित करने वाला व्यक्ति अच्छा व्यक्ति कहलाता है। अर्थात् माता के रूप में नारी समाज में कल्याणकारी कार्यों का मार्ग-दर्शन करती है; प्रेरणा और प्रोत्साहन देती है। निष्कपट भाव से दूसरों पर स्नेह रखना, दूसरों के सुख के लिए अपने सुखों का त्याग करना, संकट के समय दूसरों की सेवा और सहायता करना--यही मनुष्य के नैतिक कर्तव्य हैं। नारी इन समस्त कर्तव्यों को अपने जीवन में एकाकार कर अपनी संतति के माध्यम से समाज में नैतिक जीवन का प्रसार करती है। विशुद्ध नैतिक जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी ही अनुभूति की आध्यात्मिक उच्चता को स्पर्श करता है। स्वयं नारी इस उच्चता को स्पर्श करती है यह बात माँ शारदा, श्रीमती एनी बेसेन्ट तथा भगिनी निवेदिता आदि के जीवन-चरित से स्पष्ट है, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन नैतिक कर्तव्यों के पालन में तथा अध्यात्म के प्रकाश को सर्वत्र बिखेरने के प्रयासों में व्यतीत किया।

अतः नारी के व्यक्तित्व के प्रति हीन दृष्टि का परित्याग

कर जब तक हम समदृष्टि की भावना नहीं रखते, तब तक समाज की न भौतिक उन्नति सम्भव है,न अन्य किसी प्रकार की। अपने एक शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था-- 'नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें ऊपर नहीं उठाया तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है।...... संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

अस्तु, नारी प्रगति के पथ पर अग्रसर होने वाले दो दृढ़ पगों में से एक है; वह समाज में अच्छाई की जन्मदात्री है; नैतिकता की पोषक है, शोषक नहीं; रक्षक है, भक्षक नहीं।

भगवन्, दया करके मुझे यह शक्ति दे कि किसी को मेरी सान्त्वना की आवश्यकता ही न पड़े। लोग मुझे समझें इसकी जगह मैं ही उन्हें समझूँ; इसकी बजाय कि लोग मुझे प्यार करें मैं ही उन्हें प्यार करना सीखूँ। क्योंकि, देने में ही वह निहित है जो हमें प्राप्त होता है। क्षमा करने से ही हम क्षमा के पात्र बनते हैं और आत्मोत्सर्ग में ही चिरन्तन जीवन का मार्ग है।

— संत फ्रांसिस

धर्म - रहस्य

सन्तोष कुमार झा

प्राचीन समय की बात है, कौशिक नाम के एक तपस्वी ब्राह्मण थे। बचपन से ही वेद आदि का अध्ययन करने लगे थे। युवा अवस्था में ये एक वन में चले गये और वहीं रहकर वेदों का अध्ययन और तप करने लगे।

एक दिन की बात है, ब्राह्मण किसी वृक्ष के नीचे बैठकर वेद का पाठ कर रहे थे। उसी वृक्ष की एक डाल पर एक निरीह बगुली बैठी थी। उसने डालपर से विष्ठा कर दिया। दुर्भाग्य से उसकी बीट ब्राह्मण पर पड़ी। बीट पड़ते ही ब्राह्मण देव तिलमिला उठे और क्रोध भरी दृष्टि से ऊपर की ओर देखा। उनकी क्रुद्ध दृष्टि पड़ते ही बेचारी बगुली निष्प्राण हो भूमि पर गिर पड़ी और भस्म हो गई।

बगुली की दुर्दशा देखकर ब्राह्मण को बड़ा दुख हुआ और वे पश्चात्ताप भी करने लगे। किन्तु उनके हृदय के एक कोने में अपनी तपस्या से प्राप्त शक्ति का अहंकार भी जाग उठा। फिर भी, बगुली का अनिष्ट हो जाने के कारण ब्राह्मण दुखी थे और पश्चात्ताप कर रहे थे।

इसी उधेड़बुन में लगे दैनिक कर्मों से निपटकर वे पास के नगर में भिक्षा माँगने गये। एक गृहस्थ के द्वार पर जाकर

उन्होंने आवाज लगाई—"माई, भिक्षा दे।" भीतर से एक महिला का स्वर आया, "ठहरो! बाबा, भिक्षा लाती हूँ।" ब्राह्मण ठहर गये। कुछ समय बीता, किन्तु न तो कोई भिक्षा ले कर आया और न किसी ने कुछ उत्तर ही दिया। लगभग एक घड़ी और बीत गई, किंतु न तो भिक्षा आई, न ही उत्तर। अब ब्राह्मण का धैर्य छूट गया। पश्चात्ताप के कारण क्रोध के घोड़े पर लगी संयम की लगाम छूट गई। उनके मन में क्रोध की अग्नि पुनः भभक उठी। ज्ञान के बदले पुनः तप का अहंकार ब्राह्मण के अन्तःकरण में जाग उठा। वे सोचने लगे—यह मूख गृहिणी मेरे तप के प्रताप को जानती नहीं है, आज मैं उसे दिखा दूँगा कि ब्राह्मण के तप में कितना बल होता है; उसे मैं बता दूँगा कि ब्राह्मण के अपमान का क्या फल होता है।

ब्राह्मण इस उधेड़बुन में लगे ही थे कि द्वार खुला और एक महिला ने अत्यन्त ही विनीत स्वर में निवेदन किया, "ब्राह्मण देव, भिक्षा लीजिये।" भिक्षा पात्र आगे बढ़ाने के स्थान पर ब्राह्मण ने कुपित स्वर में कहा, "गृहिणी! तुम्हारा यह कैसा व्यवहार! ब्राह्मण को भिक्षा के लिये रोक कर दो घड़ी तक तुमने उसे द्वार पर खड़ा रखा और उसकी सुधि भी न ली।"

उस स्त्री ने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा, "क्षमा करें, ब्रह्मन्! मैं गृहस्थी के आवश्यक कार्यों में लगी थी, अतः आपको भिक्षा देने में विलम्ब हुआ। मेरे पति बाहर से घर पर आये थे, मैं उन्हीं की सेवा में लगी थी।"

ब्राह्मण ने मानों क्रोध में जलते हुए कहा, "क्या कहा! क्या तुम्हारे पति ब्राह्मण से श्रेष्ठ हैं, जो तुम मेरी उपेक्षा करके उनकी सेवा में लगी रही?"

महिला ने पुनः शांत किंतु दृढ़ स्वर में कहा—

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्ता मे दैवतं महत् ।

म० भा० वनपर्व २०६।२०

—"क्षमा करें विद्वन्! मेरे लिये पति ही सबसे बड़े देवता हैं।"

ब्राह्मण ने और भी अधिक क्रोधित होते हुए कहा—अरी घमंडिनी! पति को श्रेष्ठ मानती है और ब्राह्मण का अपमान करती है! ब्राह्मणों से तो देवराज इन्द्र भी डरते हैं। क्या तू ब्राह्मण के तेज और प्रताप को जानती नहीं? यदि ब्राह्मण चाहे तो संसार को भस्म कर सकता है!"

उस स्त्री ने कहा, "तपोधन! क्रोध न करो। मैं कोई बगुली नहीं हूँ, जो तुम्हारे क्रोध से भस्म हो जाऊँ। क्रोध करके तुम मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। द्विजश्रेष्ठ! क्रोध तो ऐसा शत्रु है जो उसी का नाश करता है जो उसे आश्रय देता है। मैंने ब्राह्मण का अपमान नहीं किया। शास्त्र तो कहते हैं—

जितेन्द्रियः धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

म० भा० वनपर्व २०६।३४

—"जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्याय में तत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध को जिसने जीत लिया है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।"

उस पतिपरायण साध्वी स्त्री के मुँह से बगुली के भस्म होने की बात सुनकर ब्राह्मण का सारा क्रोध पानी हो गया। वह अत्यन्त आश्चर्य में डूब गया। उसने विनीत भाव से उस साध्वी स्त्री से क्षमा मांगी और पूछा, "माँ, तुम्हें बगुली के भस्म होने की बात कैसे मालूम हुई ? इस घटना को तो संसार में मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता।"

उस पतिव्रता ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं तो एक साधारण गृहस्थ महिला हूँ। मैंने न तो कोई साधना की है और न वेदादि का अध्ययन ही किया है; मैं निष्ठापूर्वक पति की सेवा करती हूँ, वही एकमात्र मेरा धर्म है, क्योंकि—

पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम्॥

म० भा० वनपर्व २०६/३०

—विप्रवर ! पति-सेवा रूपी जो धर्म मुझे प्राप्त हुआ है वही मुझे अत्यन्त प्रिय है। संपूर्ण देवताओं में मेरे पति ही मेरे लिये सबसे बड़े देवता हैं।

"ब्राह्मण देव ! निसंदेह आप त्यागी, तपस्वी और विद्वान् हैं, किन्तु फिर भी अभी आपने धर्म के रहस्य को समझा नहीं है। यदि आप धर्म के तत्त्व को जानना चाहते हैं, तो मिथिला-पुरी में धर्मव्याध नाम के एक ज्ञानी व्याध हैं उनसे जाकर पूछिये।"

उस विदुषी महिला की ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर ब्राह्मण को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। किन्तु एक मांस विक्रेता व्याध के पास जाकर धर्म का रहस्य पूछने में ब्राह्मण को बहुत ही संकोच हो रहा था। साथ ही ब्राह्मणत्व का अभिमान भी था। फिर, महिला की दिव्यदृष्टि और ज्ञान के कारण उसकी बातों पर अविश्वास भी नहीं किया जा सकता था। इधर, धर्म का रहस्य जानने की तीव्र इच्छा भी ब्राह्मण के मन में थी।

दुविधा और शंकाओं में डूबते-उतराते ब्राह्मणदेवता मिथिलापुरी पहुँचे। प्रातःकाल का समय था। नगर में चहल-पहल थी। बाजार पहुँच कर ब्राह्मण ने धर्मव्याध का पता पूछा और व्याध की दुकान के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि व्याध एक छोटी चौकी पर बैठा है, उसके सामने भैंसे-सूअर आदि मृत पशुओं का शव पड़ा है, वह उनमें से मांस के लोथड़े काट-काटकर ग्राहकों को दे रहा है। यह बीभत्स दृश्य देखकर ब्राह्मण को बड़ी घृणा हुई। वह एक ओर एकांत में जाकर खड़े हो गये। थोड़ी देर में व्याध अपनी चौकी से उठकर ब्राह्मण के पास आया और विनय पूर्वक प्रणाम करके उनसे कहा, "ब्रह्मन्! मैं जानता हूँ आपको उस पतिव्रता महिला ने मेरे पास धर्म का रहस्य पूछने के लिये भेजा है। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरा यह कृत्य देखकर आपको घृणा हो रही है। किन्तु आप थोड़ी देर यहाँ रुकें, फिर कृपा पूर्वक मेरे घर चलिये, वहीं धर्म की चर्चा होगी।"

ब्राह्मण के लिये यह दूसरी अद्‌भुत घटना थी। वह

सोच रहे थे, इस व्याध को यह कैसे मालूम हो गया कि मुझे उस सती ने भेजा है। काम समाप्त करके व्याध ने ब्राह्मण से कहा, "चलिये, विप्रवर, अपनी चरणधूलि से मेरा घर पवित्र कीजिये।" उसके घर पहुँचकर ब्राह्मण ने देखा कि वह अत्यंत ही साफ सुथरा एक छोटा सा घर है। प्रत्येक वस्तु स्वच्छ और पवित्र है। देव को अर्पित किये हुए चंदन-धूप आदि की सुगंध चारों ओर फैल रही है। व्याध ने ब्राह्मण को बैठने के लिए एक स्वच्छ आसन दिया। बैठते हुए ब्राह्मण ने कहा, हे व्याधश्रेष्ठ ! मांस बेचने का यह घोर कर्म निश्चय ही तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम इसे त्याग दो। तुम्हारे इस घोर कर्म से मुझे बड़ा ही संताप हो रहा है।" व्याध ने उत्तर दिया-

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम्।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्यु मा कृथा द्विज ॥

म० भा० २०७/६ वन पर्व

—ब्रह्मन् ! यह कार्य मेरे बाप-दादों के समय से होता चला आ रहा है। मेरे कुल के लिये जो उचित है वही धंधा मैंने अपनाया है। मैं अपने धर्म का ही पालन कर रहा हूँ, अतः आप मुझपर रुष्ट न हों।

मैं जो कर्म कर रहा हूँ, निस्सन्देह वह घोर कर्म है, किन्तु ब्रह्मन् !

दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम्।

मैं इस दोष के निवारण के लिये यत्न कर रहा हूँ।

स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।
पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ॥

२०८/ वन पर्व ८

विप्रवर ! मैं अपना स्वधर्म समझकर इस कार्य को नहीं छोड़ रहा हूँ। पहले से मेरे पूर्वज ऐसा करते आये हैं यह समझ कर मैं इसी कम से जीवन-निर्वाह कर रहा हूँ।

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ॥

२०८/ वन पर्व ६

अपने कर्म का परित्याग करनेवाले को यहाँ अधर्म की प्राप्ति होती देखी जाती है। जो अपने कर्म में तत्पर है, वास्तव में उसी का बर्ताव धर्मपूर्ण है। यह निश्चित सिद्धान्त है।

फिर भी जो व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों के कारण इस समय क्रूर कर्म में लगा है, उसे सदा यह सोचते रहना चाहिये कि मैं किस प्रकार इस घोर कर्म से छुटकारा पा सकता हूँ। निरंतर इस प्रकार सद्विचार करने से मनुष्य अवश्य ही उस क्रूर कर्म से छुटकारा पा जाता है। अपने कर्म में रत व्यक्ति ही महान् यश का भागी होता है।

स्वकर्मनिरतो योहि स यशः प्राप्नुयान्महत् ।

२०८/ वनपर्व / २६

तपोधन! सामाजिक वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मैं अपने कुल-गत धर्म का पालन कर रहा हूँ और व्यक्तिगत वर्णाश्रम-

धर्म के अनुसार गृहस्थ-धर्म में रहकर मैं अपने कर्तव्यों का पालन कर रहा हूँ।

पिता माता च भगवन्नेतौ मद्दैवतं परम्।
यद् दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम्॥

२१४/१८ वनपर्व

भगवन्! माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं। जो कुछ देवताओं के लिये करना चाहिये, मैं इन्हीं दोनों के लिये करता हूँ। मेरे स्त्री-पुत्र आदि भी इन्हीं की सेवा शुश्रूषा करते हैं। यही हमारा परम धर्म है।

माता-पिता की सेवा ही मेरे लिये परम तप है। इस तपस्या के प्रभाव से ही मुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। इसी तप के फलस्वरूप मैंने धर्म के रहस्य को भी समझा है। उस पतिव्रता स्त्री को पतिसेवा रूपी धर्म के पालन करने के कारण वही फल प्राप्त हुआ, जो मुझे माता-पिता की सेवा से प्राप्त हुआ, या जो कि योगी को योग से और तपस्वी को तप से प्राप्त होता है।

कौशिक ब्राह्मण की तरह आज हममें भी अधिकांश लोग ऐसे हैं जो धर्म के रहस्य को नहीं समझ पाते। इसी कारण किसी पूजा विशेष या अनुष्ठान आदि के द्वारा ही ईश्वर-प्राप्ति या धर्म लाभ की बात कहते हैं। इसी समस्या का समाधान करने के लिये महाभारत में धर्मव्याध की कथा कही गई है। महाभारत की इस कथा में धर्म के व्यावहारिक स्वरूप की चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि

हमारे दैनंदिन जीवन से, हमारे व्यावसायिक कर्मों से धर्म किस प्रकार सम्बन्धित है, किस प्रकार अपने जीवन के क्रिया-कलापों को करते हुए भी हम धर्मलाभ कर सकते हैं। इस कथा में उदाहरणों द्वारा यह बताया गया है कि हमारे कर्म ऊपर से चाहे क्रूर कर्म ही क्यों न दिखें, भले ही हम ऊपर से घर-गृहस्थी के माया-जाल में बँधे दिखाई देते हों, पर यदि हम अपने जीवन के कर्मों को भगवान् की पूजा के रूप में करें, उनका फलाफल भगवान् को अर्पित कर दें, तो वही हमारे लिये मुक्ति का साधन बन जाते हैं। इसके विपरीत यदि जप-तप आदि सात्त्विक कर्म अथवा वेदाध्ययन आदि ज्ञानात्मक कर्म भी अहंकार से किये गये, तो उनसे धर्म-लाभ नहीं होता। यह कौशिक ब्राह्मण के उदाहरण से स्पष्ट है।

—×—

जो मनुष्य पाप कर्म हो जाने पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता है वह उस पाप से छूट जाता है तथा फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर वह भविष्य में होने वाले पापों से बच जाता है।

महाभारत वनपर्व २०७/५१

महामना मदनमोहन मालवीय

डा० त्रेतानाथ तिवारी

हिन्दू-संस्कृति की नींव की दृढ़ता का रहस्य वर्ण और आश्रम धर्म के रहस्य को जाने बिना समझ में नहीं आ सकता। विवेकहीन लोग इन दोनों को हमारी दुर्बलता मानते हैं, किन्तु इन्हीं दोनों के बल पर काल के प्रहार सहती हुई भी हमारी संस्कृति अभी जीवित है, जबकि ग्रीक और रोमन जैसी संस्कृतियाँ लुप्त हो गईं। हमारी संस्कृति पुरातन होने से धुँधली अवश्य हो गई है और समय-समय पर उसे पुनर्जीवित और परिमार्जित करने की आवश्यकता पड़ी है। राष्ट्रपति श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दूओं का जीवन दर्शन' में इस रहस्य को पाश्चात्य सभ्यता के भक्तों के समझने योग्य भाषा में सुन्दर ढंग से समझाया है। हमारे ऋषियों ने ब्राह्मण-वर्ग को संस्कृति की रक्षा का भार सौंप रखा था। किन्तु यह वर्ग अपना कर्तव्य न निभा सका। ब्राह्मणगण आचार-विचार में वैश्यों और शूद्रों के समान हो गए। इसी कारण ऐसा महान् ह्रास हुआ है। जिस समाज का आप सुधार करना चाहते हैं उस समाज के रहस्य से आपको अवगत होना होगा और फिर उसमें भीतर से प्राण फूँकना होगा। यदि हम उसकी विशेषताओं को समझने का प्रयास नहीं करते, उसका तिरस्कार करते हैं और उसकी

मौलिक व्यवस्था के स्थान पर विदेशीय समाज रचना को आरोपित करते हैं तो हमें दुहरी हानी उठानी होगी। श्री भगवान् ने स्वयं कहा है कि इस प्रकार के हाल से उद्धार करने के लिए वे स्वयं आते हैं। इसी ब्राह्मण-आदश को पुनः संस्थापित करने के लिए मानो मालवीय जी का एक आदर्श ब्राह्मण के रूपमें अवतार हुआ था। समय-समय पर भगवान् अपने पार्षदों को कार्यक्षेत्र में उतरने के लिए प्रेरित करते हैं। मालवीयजी जानते थे कि उन्हें 'भेजा गया' है। उनके विवाह का काल उनकी कविता और कल्पना का समय था। वे बिहारी के दोहों और सूर के पदों को कण्ठस्थ कर अपनी धर्मपत्नी को सुनाया करते थे। एक बार एक ग्राम्य कविता को सुनकर उन्होंने भगवान् से विनती की थी—

"गुणी जनन को साथ, रसमय कबिता माँह रुचि।
सदा दीजियो नाथ, जब जब मोहिं पठाइयो॥"

मालवीयजी ने ाह्मण-आदर्श के पुनः संस्थापन के कार्य को उत्तम रीति से सम्पादित किया है। ब्राह्मण में चारों वर्ण के गुण होते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह सेवा का पाठ सीखता है। समय-समय पर वह क्षत्रित्व का परिचय भी देता रहता है। आपद्धर्म की स्थिति में वह वैश्य वृत्ति भी ग्रहण कर सकता है।

मालवीयजी जब क्षत्रियत्व का परिचय देते थे तब लोग उनके तेज को नहीं सह सकते थे। ब्राह्मणत्व के विग्रह स्वरूप साधु नाग महाशय अपने सात्त्विक भावों के आवेश में एक

तगड़े अंग्रेज अफसर की बन्दूक छीनकर अपने घर ले आये थे, और बाद में उस अफसर को उस क्षेत्र में शिकार खेलने का विचार त्याग देना पड़ा था।

मालवीयजी का स्वभाव बहुत मधुर, स्नेहपूर्ण और दयालु था। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, सीताराम चतुर्वेदी आदि महानुभावों ने उनसे इतनी आत्मीयता बढ़ा ली थी कि वे उन्हें 'मेरे मालवीयजी' कहा करते थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि के वे दूसरों के कुछ कम 'अपने' थे, वे न जाने कितनों के अपने थे।

विद्यार्थियों को वे बड़े प्रेम से सुधारने का प्रयत्न करते थे। प्रत्येक एकादशी को वे विश्वविद्यालय में कथावाचन करते थे। एक दिन अर्जुन का प्रसंग आया। "अर्जुनस्य' प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम्"—अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ थीं कि मैं न तो किसी के सम्मुख दीनता से गिड़गिड़ाऊँगा और न युद्ध से पीठ दिखाकर भागूँगा। वे अपने मधुर स्वर को ऊँचा उठाकर कहने लगे, "विद्यार्थियों ! तुम लोग भी ऐसे ही बनो।"

एक बार उनका पुत्र रमाकान्त रोता हुआ आया और बोला—"बबुआ मेरी गेंद एक लड़के ने छीन ली।" वे बिगड़कर बोले, "जाओ, गेंद छीनकर वापस लाओ। रोते हुए क्या बताने आए हो ?" कथा के उपसंहार में वे कहा करते थे :—

सत्येन ब्रह्मचर्येण, व्यायामेनार्थविद्यया।
देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानार्हः सदाभवः॥"

एक विद्यार्थी सन्ध्या के समय पढ़ रहा था। अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ वे बोले, "अरे, इतना पढ़ते हो! पर शरीर भी तो तगड़ा होना चाहिये। बहुत बुद्धि लेकर क्या करोगे यदि तुम्हें कोई जबरदस्ती उठाकर दे मारे? इसलिए कण्ठस्थ कर लो :—

"दूध पियो कसरत करो नित्य जपो हरिनाम।
मन लगाइ विद्या पढ़ो पूरे हों सब काम॥

कोई भी व्यक्ति उनसे कभी भी मिल सकता था, कितने ही समय तक उनसे बातचीत कर सकता था और किसी भी काम के लिए पत्र लिखवा सकता था। वे अपूर्व धैर्य के साथ एकाग्र होकर सबकी बातें सुना करते थे तथा दुःखी लोगों के दुःख को जानकर स्वयं भी रोने लगते थे। वे किसी को निराश होकर नहीं लौटने देते थे। लोक कल्याण के लिए उन्होंने अनेक अवसरों पर अपने नियमों को भँग कर दिया था।

गाँधीजी ने लिखा है, "पण्डित मालवीयजी ने मुझे अपने ही कमरे में शरण दी थी। हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर उनके सादगीमय जीवन की मुझे एक झाँकी मिली थी। उनके साथ एक ही कमरे में रहने के कारण मैंने उनकी नित्यप्रति की जीवनचर्या को अत्यन्त निकट से देखा था, और उसे देखकर मैं मन्त्र मुग्ध हो गया था। उनका घर दरिद्रों के लिए एक धर्मशाला की तरह था। उनका कमरा इतना भरा था कि एक कोने से दूसरे कोने तक जाना सम्भव नहीं था। उसमें किसी को भी किसी भी समय

स्थान मिल सकता था। कोई भी अभ्यागत किसी भी समय आकर उनसे बातचीत कर सकता था। उन्होंने इस धर्मशाला के समान कमरे के एक कोने में बड़े जतन से मेरी खटिया बिछवा दी थी। इसप्रकार मुझे मालवीयजी से बातचीत करने का सुयोग मिल गया। अलग दल और भिन्न विचारों को रखते हुए भी वे मुझे बड़े भाई की तरह प्यार से समझाते थे।"

ऐसे ही महापुरुषों के विषय में कहा गया है—

"गायन्तिदेवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मादिभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वाम् ॥"

—अर्थात् देवता उन स्वर्गापवर्गाधिकारी देवताओं का गायन करते हैं तथा धन्य समझते हैं जो पुनः भारत भूमि में मानवदेह धारण करके जन्म लेते हैं।

समय पर उपस्थित न होना आपका एक दोष था। मालवीयजी अनेक महत्वपूर्ण अवसरों में समय पर उपस्थित न हो सके थे। उनकी इस देरी का क्या कारण था? यही कि वे उस समय किसी दुखिया की दुखभरी कहानी सुनकर उसकी सहायता करने में व्यस्त रहते थे।

एक बार मालवीयजी को रेलयात्रा करनी थी। भोजन का समय हो गया था। उन्हें स्टेशन एक लम्बे रास्ते से जाना था क्योंकि रास्ते में उनके एक आत्मीय रहते थे।

रेलगाड़ी के आने का समय भी हो गया था। किन्तु मालवीयजी ने वहाँ पहुँचकर भोजन किया और शीघ्र ही स्टेशन पहुँचे। रेलगाड़ी चलने लगी थी इसलिए दौड़कर चढ़ना पड़ा।

एक दिन प्रयाग घण्टाघर के पास वे मधुमंगलजी मिश्र से मिले। उसी समय उन्हें एक भिखारिन दीख पड़ी। उसकी कराह सुनकर वे पसीज गए और सड़क पर ही बैठ कर पूछने लगे, "पीड़ा कहाँ पर है? कभी दवा कराई थी?" आदि। उन्हें बैठे देखकर राहगीर भी एकत्र हो गए और उस भिखारिन के पात्र में पैसे डालने लगे। मालवीयजी ने मधुमंगल मिश्र के द्वारा एक इक्का मँगवाया और भिखारिन को इक्के में बैठाकर अस्पताल की ओर चले। वे उस समय मधुमंगल जी को भूल से गये थे।

एकवार वे बिजली के समान शिखरामजीवैद्य के घर पहुँचे और कहने लगे, "एक कुत्ते के कान के पास घाव हो गया है और उसमें कीड़े भी पड़ गए हैं। उसके लिए दवा बताइए।" वैद्यजी ने एक अंग्रेजी दवा बताई तो वे एक डाक्टर के पास उस दवा के सम्बन्ध में और भी जानकारी लेने गए। जब डाक्टर ने हँसकर कहा कि दवा बिलकुल ठीक है तब वे दौड़ते हुए कुत्ते के पास गए और उसके घाव में उन्होंने स्वयं दवा लगाई। कुत्ता पहले तो गुर्राकर भौंकने लगा, किन्तु थोड़ी ही देर में आराम पाकर सो गया।

बनारस स्टेशन में दो बदमाश एक बच्चे वाली स्त्री का पीछा कर रहे थे। मालवीयजी को जब यह ज्ञात हुआ तब वे

उस स्त्री के साथ चलने लगे। उसे एक इक्के पर बिठा दिया और उसके पते पर भिजवा दिया। बाद में कुछ विद्यार्थियों के साथ उसके घर जाकर उसका पता लगाया कि वह कुशलतापूर्वक पहुँच गई अथवा नहीं।

एक बी. एस. सी का विद्यार्थी अपनी फीस माफ कराने के लिए प्रयत्न कर रहा था। यदि उसकी फीस माफ न होती तो उसकी पढ़ाई रुक जाती। उसे प्रिन्सिपल से सहायता न मिल सकी। वह मालवीयजी से भेंट करने के लिए तीन दिनों तक प्रयत्न करता रहा किन्तु सफल न हो सका। चौथे दिन जब मालवीयजी अपना कार्य समाप्त कर भीतर चले गए तब भी वह खड़ा रहा। मालवीयजी उसे खड़ा देखकर पुनः निकले और उन्होंने उसके लिए तुरन्त समुचित प्रबन्ध करा दिया।

दुर्ग (मध्यप्रदेश) के आयुर्वेदिक औषधालय का उद्घाटन मालवीयजी के कर कमलों द्वारा सन् १९२२ में हुआ था। कुछ लोग उन्हें दुर्ग लिवा जानेके लिये रायपुर मोटर से आए थे। वे भोजन कर चुके थे। उन्होंने कहा—"बीस मिनट आराम करके चलता हूँ।" इसी बीच कोई उनसे मिलने आ गए। फिर दूसरे व्यक्ति भी भेंट करने आ गए। इस प्रकार डेढ़-दो घंटे बीत गए। मिलने-जुलने वालों का तांता लगा ही रहा। वे अपना बीस मिनट का आराम ले ही नहीं पाते थे। वे न तो किसी मिलने वाले को मना करते थे और न किसी को मना करने ही देते थे। चार बजे उद्घाटन था। बड़ी कठिनाई से वे अढ़ाई बजे बिना आराम किये ही रवाना हो गए।

दुर्ग के कार्यकर्त्ताओं को आपस में छत्तीसगढ़ी में बातचीत करते सुनकर वे बोले—"यह उपभाषा तो मेरी उपभाषा से मिलती जुलती है।" कार्यकर्त्ताओं ने कहा—"वैसे तो हम सब ही युक्त प्रान्त से ही आए हैं।" इससे मालवीयजी बड़े प्रसन्न हो गए तथा उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में छत्तीस-गढ़ी से मिलते-जुलते शब्दों का बड़ी प्रचुरता से प्रयोग किया।

आपका चरित्र पवित्र है। इसका गायन कर कोई भी पवित्र हो सकता है। अंग्रेजी पत्र 'लीडर' के लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक श्री सी. वाई. चिन्तामणि ने कहा था—"Malviyaji is heart and heart alone from head to foot." (मालवीय जी सिर से पैर तक हृदय ही हृदय हैं)।

आपके पिता श्रीब्रजनाथजी कथावाचक थे। जो कुछ चढोत्री आती उसीसे निर्वाह किया करते। वे किसी से याचना नहीं करते थे। उनकी मासिक आय मुश्किल से पाँच रुपयों की हो पाती थी। इसपर भी अपने पुत्र मदनमोहन की इच्छा देखकर उन्होंने उसे अंग्रेजी शाला में भरती करा दिया। वे शाला की फीस बड़ी कठिनाई से जुटा पाते थे। उनका कुटुम्ब बड़ा था और रसोई देर से वनती थी। भगवान को भोग लगने के पहले ही बालक मदनमोहन को शाला जाना पड़ता था। इस स्थिति में वे पिछले दिन की रोटी और मठा खाकर पढ़ने चले जाया करते थे।

वे नित्य व्यायाम और खेलकूद किया करते थे। होली

के अवसर पर गुट बनाकर वे सबपर रंग छोड़ा करते थे। जन्माष्टमी में वे कन्हैया के पालने की सजावट बड़े प्रेम से किया करते थे। इस अवसर पर रात भर भजन-कथा हुआ करती थी। सभी कामों में बड़ी मस्ती रहती थी।

वे यज्ञोपवीत होने के पश्चात् बहुत मन लगाकर सन्ध्या वन्दन और पूजापाठ किया करते थे। उनका एक सन्ध्या दल था जो प्रतिदिन यमुनातट पर पहुँचना था। उनका दूसरा दल भाषण दल था जो हिन्दू धर्म के विरोधी पादरियों के गन्दे प्रचारों का अपने व्याख्यानों के द्वारा प्रतिकार किया करता था। मेले-तमाशों में सेवा और प्रबन्ध का कार्य करना भी उन्होंने बचपन में ही सीख लिया था और अवसर आने पर वे सेवा-कार्य में सबसे आगे रहा करते थे। एक बार उनके पड़ोसी व्यासजी के घर में आग लगी। उन दिनों पंप या नल नहीं थे। मालवीयजी तुरन्त पचास-साठ घड़ा पानी खींचकर लाए और व्यासजी के घर के ऊपर चढ़कर उन्होंने आग बुझा दी।

संगीत से भी मालवीयजी को बड़ा प्रेम था। अपने पिताजी से उन्होंने बाँसुरी-वादन सीखा था और सितार बजाने में बड़ी प्रवीणता पा ली थी। वे अपने पिताजी से सूर के पदों का गायन सुना करते थे तथा सूर, मीरा आदि अनेक भक्त कवियों के चुने हुए पदों को वह स्वयं सितार पर गाया करते थे!

वकालत तक की शिक्षा तो उन्होंने कॉलेज से प्राप्त की

थी किन्तु संस्कृत-साहित्य एवं धर्मग्रन्थों का अध्ययन उन्होंने व्यक्तिगत रूप से किया था। बाद में उन्हें संस्कृत के प्राध्यापक महामहोपाध्याय श्री आदित्यराम जी भट्टाचार्य से म्योर कॉलेज में पुनः संस्कृत का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। भट्टाचार्यजी ने शीघ्र ही उनकी प्रतिभा को पहचान लिया तथा वे सदा के लिए उनके गुरु एवं पथप्रदर्शक बन गए।

हिन्दू समाज को संगठित करने की दृष्टि से उन्होंने मध्यकेन्द्रीय हिन्दू समाज नामक एक सभा की स्थापना की थी। बनारस के महाराजा की कोठी में उनका भव्य उत्सव हुआ था। श्री महाबीर प्रसाद जो उसके अध्यक्ष थे। राजा रामपाल सिंह सभापति के कार्य में बीच-बीच में बड़ी बाधा देते थे। मालवीयजी इसे सह न सके। इसलिए वे प्रत्येक बार राजा साहब के पास जाते और इनके कान में कहकर उन्हें रोकने का प्रयास करते। उत्सव के समाप्त होने के बाद राजा साहब ने अपने पत्र 'हिन्दुस्थान' में अधिवेशन की तो बड़ी प्रशंसा की किन्तु मालवीयजी के विषय में लिखा—"उसमें दो एक ऐसे ठीठ लौंडे थे जो बड़े-बड़े राजा-रईसों और वक्ताओं को व्याख्यान देते समय उनके कान में सलाह देने की धृष्टता करते थे।" किन्तु जब आगे चलकर 'हिन्दुस्थान' दैनिक बना तब राजा साहब को उसके सम्पादन के लिए कलकत्ते की दूसरी राष्ट्रीय सभा के मंच पर मधुर किन्तु प्रभावशाली वाग्धारा बहाने

वाले मालवीयजी को ही चुनना पड़ा जिनके तेजस्वी मुख और श्वेत वस्त्रों से सचाई, निर्भयता, उत्साह एवं योग्यता का प्रकाश निरन्तर बरसता रहता था। धृष्टता करने वाले की परख होकर रही। राजा साहब ने मालवीय जी से कहा कि, "साठ रुपयों की शिक्षक की नौकरी छोड़कर 'हिन्दुस्थान' का सम्पादन करो, देशसेवा करो और वकालत पढ़ो। मैं दो सौ रुपया मासिक दिया करूँगा। मालवीयजी ने सम्पादन-कार्य हाथ में तो लिया पर एक शर्त के साथ। वह यह कि राजासाहब मद्यपान की हालत में उन्हें अपने पास कभी नहीं बुलाएँगे। मालवीयजी की सत्संगति में राजासाहब के दुर्गुण भी छूटने लगे। किन्तु एक बार राजासाहब ने मद्य-पान की स्थिति में उन्हें बुला ही लिया। मालवीयजी ने तुरन्त सम्पादन कार्य त्याग दिया और राजा साहब के बहुत समझाने पर भी वे अलग हो गए। फिर भी राजासाहब बहुत मना करने पर भी गुणीजन के प्रति श्रद्धा की भेंट के रूप में बहुत दिनों तक २५०) मासिक देते रहे। बाद में आपने 'अभ्युदय' निकाला और 'लीडर' का संस्थापन किया।

लार्ड कनिंग के दरबार के स्थान पर घोषणास्तम्भ और पार्क की नींव डलवाने के लिए मालवीय जी ने लार्ड मिन्टो से स्वीकृति ले ली थी। किन्तु पास में कोष न होने के कारण गोखले जी बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने मालवीयजी से कहा कि इतनी शीघ्रता नहीं करनी थी। किन्तु केवल मालवीयजी के पत्रों से ही १३२०५७) मिल गये। इस अवसर पर मालवीयजी ने जिम्मेदारी लेकर सब कड़ा पहरा

हटवा दिया और जलसे के द्वार समस्त जनता के लिए खोल दिये गए। उत्सव अतीव सफल रहा।

'हिन्दुस्थान' से अलग होकर मालवीयजी ने 'इन्डियन ओपीनियन' के सम्पादन में हाथ बटाया। उन्होंने 'लीडर' और 'अभ्युदय' की स्थापना की तथा केवल हिन्दी जानने वालों के लिये 'मर्यादा' का प्रकाशन किया। बाद में वे 'हिन्दुस्तान टाइम्स' और 'सनातन-धर्म' का संचालन भी करते रहे।

मालवीयजी सरल हिन्दी के पक्षपाती थे। शुद्ध संस्कृत शब्दों के बदले वे जतन, लगन, अचरज, पैठना, प्रानी आदि बोलचाल के शब्दों के प्रयोग को अधिक उचित समझते थे।

वे अपने पत्रों में अश्लील विज्ञापन को कभी भी छापने की अनुमति नहीं देते थे। एक बार उन्होंने 'अभ्युदय' से 'कामवटी' का विज्ञापन हटाकर 'ज्वरवटी' का विज्ञापन छापने की आज्ञा दी थी। 'सनातन-धर्म' में वे किसी प्रकार के विज्ञापन को छापना स्वीकार ही नहीं करते थे।

मालवीयजी वकालत को बहुत बुरा काम समझते थे। जिस व्यक्ति ने अपना बचपन संतोष, परोपकार और सच्चाई के बीच बिताया हो उसे कचहरी का वातावरण दूषित जान पड़ना स्वाभाविक ही था। यद्यपि मालवीयजी पैसा खींचने में आचार्य थे पर पैसे ने उन्हें अपनी ओर खींचने में कभी सफलता नहीं पाई। किन्तु जिनका हृदय एक चींटी के मन को भी दुखाने के पहले काँप उठता था वे अपने गुरू, मित्र

एवं अन्य लोगों के अनुरोध को कैसे टालते? विवश होकर उन्हें वकालत की पढ़ाई शुरू करनी ही पड़ी। वे सम्पादन-कार्य से समय बचाकर पढ़ाई किया करते थे। इसी काल में उन्होंने 'Constitutional Law' के अन्तर्गत कुछ मौलिक और अनजाने पक्षों में क्रान्तिकारी टिप्पणी तैयार की थी जिसके कुछ अंश उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में सुनाया था। जब वे मुरादाबाद गये थे तब वे वहाँ से सर तेजबहादुर सप्रू को होनहार लड़का जानकर इलाहाबाद लेते आए थे और उसे अपनी वकालत में से मुकदमे देने लगे। बाद में तेजबहादुर सप्रू 'सर' हो गए और कान्स्टीट्यूशनल लॉ के श्रेष्ठतम आचार्य माने जाने लगे।

मालवीयजी की वकालत प्रारम्भ होते ही चमक उठी। उनके घर में सबेरे से ही अभियोगियों और वादियों की भीड़ जमा हो जाती थी मानो वह कोई धर्मार्थ औषधालय हो। उन्हें साँस लेने को भी अवकाश नहीं मिलता था कभी-कभी तो वे दफ्तर से उठकर पूजापाठ कर पीताम्बर पहने-पहने बिना भोजन किये ही गाड़ी में जा बैठते थे और कचहरी पहुँचते तक वस्त्र बदल लेते थे। इतना होते हुए भी वे सबके कष्टों को सुनते थे। एक अवसर पर किसी दुखिया ने उनसे डरते-डरते कहा "महाराज, अमुक वकील साहब ने मेरे मुकदमे की फीस ले ली है और कहीं चले गए हैं। आप मेरे मुकदमें की पैरवी कर दें।" मालवीयजी ने उसका प्रबन्ध भी किसी वकील मित्र के द्वारा करा दिया।

आपकी सौम्य मूर्ति, धवल केश, सुन्दर सरस प्रभाव-

शाली मधुर वाणी और समझने का ढंग सब कुछ अद्वितीय था। उन्होंने वकालत के प्रारम्भ में ही शेरकोट की रानी के मुकदमे को जीत लिया था। इससे उन्हें कीर्ति तो मिली ही, साथ में बहुत सा धन भी मिला जिससे पुराना कर्ज चुकाया गया और नया मकान भी बना। चौरा-चौरी काण्ड के समय वे वकालत छोड़ चुके थे, किन्तु सबकी दृष्टि आपपर ही पड़ी। सात दिनों तक गहन अध्ययन करने के पश्चात् आपने १५१ अधियुक्तों को फाँसी के तख्ते में झूलने से बचा लिया। न्यायाधीश ने कहा—"अभियुक्तों को मालवीयजी को धन्यवाद देना चाहिए। उन्हीं के कारण इन लोगों की जान बची है।"

वे प्रयाग के सर्वश्रेष्ठ वकील थे। उनमें पैसे का किंचित भी मोह नहीं था। देश सेवा के लिए उन्होंने वकालत छोड़ दी थी। तपस्वी ब्राह्मण के इस अद्भुत त्याग को देखकर श्री गोखले ने कहा था—"त्याग किया है मालवीयजी ने। गरीब घर में पैदा होकर वकालत की। धन कमाने लगे। अमीरी का मजा चखा। चखकर उसे देश के लिये ठुकरा दिया। श्री विशन नारायण दर ने कहा था, "मालवीयजी का जीवन आत्म-त्याग के सिद्धान्त का सबके समझने योग्य एक अनुपम भाष्य है।"

१९२४ में प्रयाग में अधर्म कुम्भ का मेला था। गंगा की धारा वर्षा के पश्चात् सदा अपना स्थान बदलती रहती है। सरकार ने आदेश निकाला कि त्रिवेणी संगम पर इस वर्ष

स्नान करना भयावह है। वहाँ कोई स्नान करने न पावेगा। मालवीयजी ने प्रान्तीय सरकार से बड़ी लिखापढ़ी की पर सब व्यर्थ। लाखों यात्री थे। उन्होंने सत्याग्रह करने की ठानी। उनके साथ दो सौ व्यक्ति चल पड़े। पुलिस ने बल्लियों का घेरा बना दिया था। इन्हें रोका गया और इनके पास की सीढ़ी भी छीन ली गई। साथियों समेत वे वहीं बैठ गए। इनमें पण्डित जवाहरलाल भी थे। सूर्य सिर पर चढ़ता गया। सत्याग्रही न टले। नीचे रेत तप रही थी। दोनों ओर पैदल और घुड़सवार पुलिस खड़ी थी। जवाहरलालजी ने बंधान पर चढ़कर राष्ट्रीय झंडा टांग दिया। सब उकता गए थे और पुलिस भी। मालवीयजी चुप्पी साधे बैठे थे। किन्तु अचानक ही वे घुड़सवारों और पैदलों के बीच से वाण की नाईं निकल गए। जवाहरलालजी ने 'आत्मचरित' में लिखा है, "मालवीयजी ने उस समय जो करतब दिखाया वह साधारण पुरुष के लिए कठिन था, फिर बुढ़ापे की काया में लिपटकर ऐसी फुर्ती दिखाना तो बड़े भारी आश्चर्य की बात थी।" फिर क्या था, उनके पीछे सब धारा में कूदते गए। सत्याग्रही जीते और पुलिस हट गई।

१९२७ के कुम्भ में हरिद्वार में मालवीयजी की पुनः इसी प्रकार विजय हुई। अन्त में गवर्नर से बातचीत करने पर सब झगड़ा शांति से सुलझ गया।

मालवीयजी किसी काम में जबरदस्ती करना पसंद नहीं

करते थे। पुलिस द्वारा भीड़ को धक्का देनेका या कोड़े मारने का तरीका भी उन्हें पसंद नहीं था। वे चाहते थे कि यदि लोगों से कोई बात समझा बुझाकर और हाथ जोड़कर कही जाय। इस विधि से लोगों को बात मानने में कोई उजर नहीं हो सकता। यही उनकी धार्मिक प्रगति की भी नीति थी। किसी का जी दुखाकर, धार्मिक भावों को ठेस पहुँचाकर वे अपना पक्ष नहीं मनवाना चाहते थे। इसी कारण वे नरम दलीय बने रहे। किन्तु उनका नैतिक प्रभाव नरम-गरम सभी दलों पर पूरी तरह से रहता था।

मालवीयजी ने १६४६ में सनातन धर्म सभा को रजिस्टर्ड बॉडी बना दिया था। उनके धार्मिक विचारों का सार 'हिन्दू धर्मोपदेश' नामकी छोटी सी पुस्तिका में मिलता है। हिन्दू विश्वविद्यालय के पंचांग में यह श्लोकरूप में छापा जाता है। मालवीयजी पक्के सनातन धर्मी थे। किन्तु उनका सनातन धर्म सबका समावेश करने वाला है। न जाने कितनी वार उन्होंने सिक्खों के बीच बैठकर सिक्ख गुरुओं के चरित्र का वर्णन कर वीर सिक्खों को रुला दिया है। आर्य समाज के डी.ए.वी. कॉलेज के जुबिली के अवसर पर सभापतित्व के लिए जाते समय उन्होंने महात्मा हंसराजजी को गले लगा लिया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा—"स्वामी दयानन्द ने ऐसे काल में अपना प्रचार कार्य आरम्भ किया था जब सब ओर अविद्या का अन्धकार फैला हुआ था। यह उनकी तपस्या और देशप्रेम

का ही फल था कि उन्होंने जीते-जी वैदिक सभ्यता का दर्शन किया।"

एक बार उन्हें ज्ञात हुआ कि तीन सहस्र ऐसे हिन्दू परिवार हैं जो आचार-विचार में हिन्दू हैं, केवल नाम मात्र के लिए मुसलमान हैं और जो हिन्दू समाज में पुनः आना चाहते हैं। उन्होंने पण्डितों की सभा बुलाकर व्यवस्था की, शुद्धि सभा की स्थापना की और इन सभी परिवारों को शुद्ध कर लिया।

गाँधीजी के हरिजनोद्धार के समय मालवीयजी ने पुनः पण्डितों को बुलाकर इसके लिये व्यवस्था की तथा धर्मशास्त्र द्वारा अनुमोदित अन्त्यज उद्धार विधि का निर्माण किया। अनेक हठी सनातन धर्मियों को उनका लोहा मानना पड़ा। मालवीयजी ने इसी शास्त्रीय आधार पर अछूतों को मंत्रोपदेश दे कर समत्व प्रदान किया और उनका दीक्षा-संस्कार किया।

सारनाथ के नवीन बौद्ध मन्दिर के संस्थापक धर्मपाल भिक्खु आपके बड़े मित्र थे। वहाँ पर निर्मित बिड़ला धर्मशाला की नींव मालवीयजी ने ही रखी थी।

मालवीयजी के भाषण मुसलमानों और ईसाइयों की सभाओं में भी होते थे और वे बड़े सम्मान से सुने जाते थे। वे किसी धर्म की निन्दा नहीं सुन सकते थे। एक बार काशी विश्वविद्यालय के आर्य समाज के जलसे में इस्लाम और ईसाई धर्म को भला बुरा कहा गया। मालवीयजी ने

तुरन्त कहला भेजा कि ऐसे लोगों के व्याख्यान विश्वविद्यालय में नहीं होने चाहिए।

उन दिनों यह कहा जाता था कि यदि धर्म का साक्षात् दर्शन करना हो, धर्म से वार्तालाप करना हो, धर्म का प्रकाश ग्रहण करना हो तो मालवीयजी का दर्शन करना चाहिए। अनेक लोगों में धर्म का निवास होता है किन्तु मालवीयजी सशरीर धर्म थे। उनके आचार-विचार, वेश-भूषा, बोल-चाल, सभी से धर्म की ज्योति छिटकती थी।

(अगले अंक में समाप्य)

—०—

मैं मृत्युपर्यन्त अनवरत कार्य करता रहूँगा और मृत्यु के पश्चात् भी मैं दुनिया की भलाई के लिये कार्य करूँगा। असत्य की अपेक्षा सत्य अनन्तगुना अधिक प्रभावशाली है; इसी प्रकार अच्छाई भी बुराई से। यदि ये गुण तुममें विद्यमान हैं, तो उनका प्रभाव आप-ही-आप प्रकट होगा।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न—कभी कभी संसार की झंझटों से मन ऊब जाता है। सब छोड़-छाड़ कर कहीं निकल जाने की इच्छा होती है। आपका क्या ख्याल है ?

—चन्द्रभान सिंह, इन्दौर।

उत्तर—यह मन की कायरता है। कहीं निकल जाने से काम नहीं बनता जिन झंझटों से बचने के लिए आप भागना चाहते हैं, सम्भव है, वे ही आपको अन्य स्थान पर भी कष्ट दें। इसलिए उत्तम तो यह है कि प्रभु का स्मरण करते हुए दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य-पथ पर लगे रहें। स्थान-परिवर्तन से मन के संस्कार बदल नहीं जाते। अधिक स्थलों में तो यह देखा गया है कि मनुष्य अपने ही स्वभाव के कारण झंझटों में पड़ता है। ऐसी दशा में, अपने दृष्टिकोण को सुधारना ही एकमात्र उपाय है। हाँ, इतना आप अवश्य कर सकते हैं—बीच-बीच में कुछ दिन के लिए ऐसे व्यक्ति का सान्निध्य करते रहें जिन्हें आप आध्यात्मिक क्षेत्र में आचार्य के समान श्रद्धा

करते हैं। इससे आपको नयी शक्ति मिलेगी और मुसीबतों का सामना करने के लिए नया दृष्टिकोण मिलेगा।

प्रश्न—मैं बड़ा क्रोधी स्वभाव का हूँ। क्रोध के आवेश में कभी कभी अनुचित कार्य भी मुझसे हो जाते हैं। बाद में पश्चात्ताप होता है। क्रोध जीतने का कोई उपाय बता सकते हैं?

—राममनोहर तिवारी, दतिया।

उत्तर—यह एक आशापूर्ण बात है कि आपको अपने दोष का ज्ञान है। क्रोध को जीतने की पहली सीढ़ी आपने तै कर ली है। अपनी किसी भी बुराई को दूर करने का प्रथम सोपान है—उस बुराई को स्वीकार करना और उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहना। आपको पश्चात्ताप होना यह दर्शाता है कि आप उस दुर्गुण को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। क्रोध को शान्त करने के लिए आप निम्नलिखित दो उपायों को काम में ला सकते हैं—

(१) जहाँ आपको ऐसा लगा कि क्रोध की वृत्ति धीरे-धीरे मन में उठ रही है त्योंही आप उस स्थान या परिवेश को छोड़ दूसरी जगह चले जायें। क्रोध का कोई कारण सामने आने पर वहाँ से हट जाने का अभ्यास करें।

(२) यदि एकदम हट जाना न जम सका, तो मन में एक ऐसे जीवित व्यक्ति की छवि अंकित करने का प्रयत्न कीजिए, जिसे आप बहुत प्यार करते हैं अथवा जिनकी

श्रद्धा करते हैं। ध्यान को प्यार या श्रद्धा के विषय पर बाँट देने से मन धीरे-धीरे शान्त हो उठता है।

इन दोनों उपायों का अभ्यास कीजिए, अवश्य सफलता मिलेगी।

प्रश्न—गुरुजनों के साथ बातचीत करते समय अकसर मैं तुतला उठता हूँ। वैसे अपने मित्रों या समवयस्कों के साथ वार्तालाप के समय मैं बिलकुल ठीक रहता। कोई निदान बता सकते हैं?

—श्रीनिवास कक्कड़, जयपुर।

उत्तर—आपके मन में एक गाँठ पड़ गयी है, ऐसा लगता है। अँगरेजी में इसे inferiority complex कहते हैं। बड़ों के पास जाते आपको कुछ घबड़ाहट भी लगती होगी। उनके सामने आप अपने को दोषी समझते हैं ऐसा प्रतीत होता है। शायद इसका कारण जीवन में घटी ऐसी कोई घटना हो, जो आपके चरित्र से सम्बन्धित हो। एक काम करें-एक ऐसे व्यक्ति के पास, जिन्हें आप आदर की दृष्टि से देखते हैं और जिन पर आप विश्वास कर सकते हैं कि वे आपके जीवन की अवांछित बातें सुनकर भी आपसे घृणा नहीं करेंगे, अपने जीवन की सारी बातें कह डालिये। किसी भी घटना को छिपाकर न रखें। यदि प्रत्यक्ष में कहने में हिचकिचाहट होती हो, तो लिखकर बता दें। यदि ऐसा कोई व्यक्ति आपको न दिखता हो जो सहानुभूति पूर्वक आपकी बातें सुन सके, तो आप हम पर

विश्वास कर सकते हैं। पत्र को 'प्रधान सम्पादक, विवेक ज्योति' के नाम लिखकर उस पर 'व्यक्तिगत' लिख दे सकते हैं। इस प्रकार करने से मन में जो पुरानी गाँठ पड़ी होगी वह खुल जायगी।

इसके साथ ही आप नित्यप्रति यह भाव मन में उठायें कि आपमें भी उसी परमात्मा की शक्ति कार्य कर रही है। आप अपने को हीन समझने की भावना को त्यागने को कोशिश करें। क्यों अपने आपको दुर्बल समझते हैं? आपमें भी तो वही आत्मशक्ति निहित है। उसे प्रकट करें। उसका विकास करें। रात में सोते समय और सुबह उठकर बिस्तर में ही बैठे बैठे आप कल्पना कर सकते हैं कि आपमें भी वही आत्मज्योति प्रकाशित है। हृदय के मध्य में ज्योतिशिखा का ध्यान करें—कल्पना-नेत्रों से उस ज्योतिशिखा को अपूर्व तेजवान और निष्कम्प देखने का अभ्यास करें। अनुभव होगा, आपकी तुतलाहट धीरे-धीरे दूर होती जा रही है।

—

मुद्रक--श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला वाराणसी-१